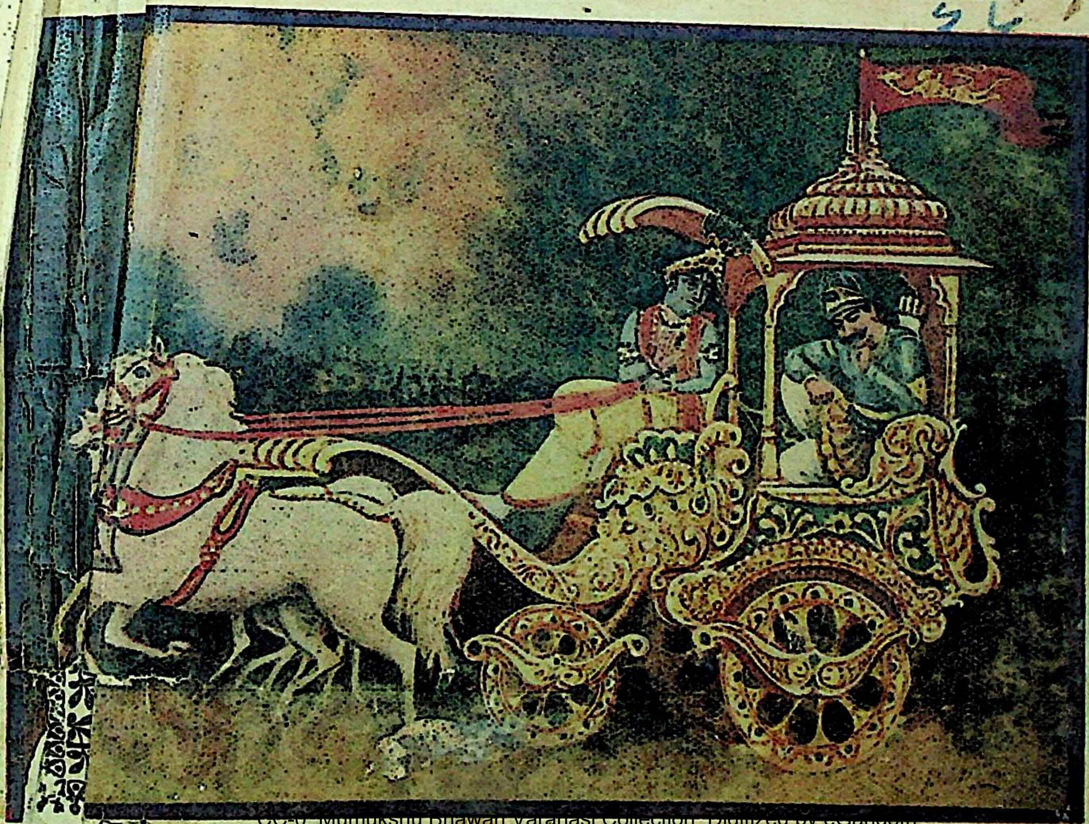
[illegible]

[illegible] माहात्म्य सहित

[illegible]

[illegible]स, [illegible], [illegible]

भगवद्गीता भाषा



मूल्य १।)

भगवद्गीता भाषा



अनुवादक
हरिराम भार्गव

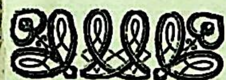
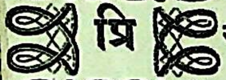
प्रकाशक—नवलकिशोर-प्रेस, बुकडिपो, लखनऊ.

ग्यारहवीं बार

सन् १९४६ ई०

मू० १)

Printed by B. B. Kapur, at the
Newul Kishore Press, Lucknow.


निवेदन

प्रिय पाठक और पाठिकाओ, यद्यपि हिन्दीभाषा में श्रीमद्भगवद्गीता के बड़े-बड़े विद्वानों ने अनुवाद करके इस सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ का भाव समझाकर देश का भारी उपकार किया है, किन्तु कठिन विषय कितना ही सरल किया जाय, पर वह भी साधारण पढ़े-लिखे लोगों के लिए कठिन ही रह जाता है। खेद के साथ कहना पड़ता है कि हमारे देश में शिक्षा का अभाव-सा है। विद्वान् लोग धार्मिक ग्रन्थों का प्रचार करने के लिए हिन्दी में अनुवाद करते हैं, पर उन अनुवादों को भी पढ़ने और समझनेवाले बहुत कम हैं। विशेषकर स्त्रियों में तो अभी शिक्षा की और भी बहुत कमी है, किन्तु उनमें पुरुषों की अपेक्षा धार्मिक श्रद्धा बहुत अधिक है। इसी विचार से हमने इस ग्रन्थ का अनुवाद बोलचाल की भाषा में लिखा है। जहाँ तक हो सका, इसकी भाषा सरल की है, अनुवाद भी सारांश किया है। हमने विद्वत्ता के आवेग से नहीं, अनुवादक बनने की इच्छा से नहीं, विद्वान् पुरुषों के लिए भी नहीं (क्योंकि विद्वानों के लिए तो बड़े-बड़े विद्वानों के अनुवाद मौजूद ही हैं) केवल साधारण पढ़े-लिखे, उन स्त्री-पुरुषों

के लिए, जो हिन्दी के कठिन शब्दों का अर्थ नहीं समझ सकते और इसी कारण इस सर्व-श्रेष्ठ ग्रन्थ का भाव समझने से वञ्चित रहते हैं, उन्हीं के हित के लिए, बोलचाल की भाषा में लिखा है। हम आशा करते हैं कि हमारे इस परिश्रम से साधारण श्रेणी के पाठक-पाठिकाओं को इसके समझने में सुविधा होगी और उसका लाभ होते देखकर हम भी अपना परिश्रम सफल समझेंगे।

श्रीमद्भगवद्गीता के समान संसार में दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है। हम इस ग्रन्थ की उपयोगिता और सर्वश्रेष्ठता के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं समझते, क्योंकि धर्म में श्रद्धा रखनेवाले सभी लोग इसे मानते हैं। अन्य देशों के विद्वान् भी मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा करते हैं। पुराणों में इसका माहात्म्य विस्तार के साथ लिखा गया है। हमने पाठकों की जानकारी के लिए इस पवित्र ग्रन्थ का माहात्म्य भी पद्मपुराण के आधार पर प्रत्येक अध्याय के आगे लिख दिया है।

विनीत—
अनुवादक

१ फ़रवरी, सन् १९३० ई०

ओम्

श्रीमद्भगवद्गीता

पहिला अध्याय



अर्जुन का विषाद





धृतराष्ट्र ने पूछा

हे संजय! पवित्र भूमि कुरुक्षेत्र में, युद्ध की इच्छा से जमा होकर, मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया? सो मुझसे कहो।

संजय ने कहा—

राजा दुर्योधन पाण्डवसेना की व्यूहरचना यानी सेना की तरतीब या मोर्चेबन्दी को देखकर गुरु द्रोणाचार्य के पास गये और यह बोलेः—"हे गुरुजी! पाण्डु के पुत्रों की इस बड़ी सेना को देखिये, आप ही के बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न ने इसकी व्यूहरचना (मोर्चाबन्दी) की है।" पाण्डवों की सेना म जितने शूरवीर हैं उन्हें दुर्योधन अपने गुरु द्रोणाचार्य से कहते हैंः—"इस सेना में भीम और अर्जुन के समान शूरवीर और बड़े-बड़े धनुष धारण करनेवाले योद्धा यानी लड़नेवाले यह हैंः—युयुधान, विराट, बड़े रथवाला द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, बड़ा बलवान् काशी का राजा,

पुरुजित, कुन्तिभोज, मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पाँचों पुत्र ये सब महारथी यहाँ मौजूद हैं।" अब दुर्योधन अपनी सेना के शूरवीरों के नाम अपने गुरु को सुनाते हैं:—हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ! अब अपनी सेना के अत्यन्त प्रसिद्ध मुख्य योद्धाओं के नाम, आपकी जानकारी के लिए, आपसे कहता हूँ। सेनापतियों के नाम ये हैं:—मेरी सेना में आप, भीष्म, कर्ण, लड़ाई को जीतनेवाले कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा हैं। इनके सिवा मेरी ओर शल्य, कृतवर्मा और भगदत्त आदि भयङ्कर कर्म करनेवाले अनेक योद्धा हैं, जो मेरे लिए प्राणों

की पर्वा नहीं करते हैं, जो नाना प्रकार के शस्त्रों को चलाने-वाले हैं और ये सबके सब युद्ध-विद्या में प्रवीण—चतुर—हैं। इतना होते हुए भी हमारी सेना, भीष्म द्वारा रक्षित होने पर भी, समर्थ नहीं जान पड़ती और भीम से रक्षित पाण्डव-सेना समर्थ जान पड़ती है। इसलिए सब ओर अपने-अपने मोर्चों में डटकर सबके सब भीष्मपितामह की ही रक्षा करें ॥ १–११ ॥ दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए कुरु-वंश के वृद्ध, प्रतापी भीष्म पितामह ने शेर की तरह गर्जकर अपना शंख बजाया ॥ १२ ॥ फिर शंख, भेरी, मृदंग, नगाड़े और रणसिंहे आदि बाजे एकबारगी बजने लगे। उन सबकी ध्वनि (आवाज़) से भारी कोलाहलकारी

शब्द हुआ यानी शोर मच गया ॥ १३ ॥ उसके बाद सफ़ेद घोड़ों के रथ पर बैठे हुए माधव यानी श्रीकृष्णचन्द्र और पाण्डुपुत्र अर्थात् अर्जुन ने भी अपने-अपने दिव्य (अलौकिक) शंख बजाये ॥ १४ ॥ जिन शंखों को भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र तथा अन्य योधाओं ने बजाये उनके नाम संजय धृतराष्ट्र से अब वर्णन करते हैं:—पांचजन्य (शंख) को हृषीकेश (श्रीकृष्णजी) ने, देवदत्त शंख को अर्जुन ने और पौण्ड्र नामक महाशंख को भयानक कर्म करनेवाले वृकोदर अर्थात् भीमसेन ने बजाया॥१५॥कुन्ती-पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय, नकुल और सहदेव ने सुघोष तथा मणिपुष्पक नामक शंख बजाये ॥ १६ ॥ हे पृथिवी

के स्वामी (धृतराष्ट्र) ! महान् धनुषधारी काशी के राजा महारथी शिखण्डी * धृष्टद्युम्न, विराट, किसी से न जीते जानेवाला सात्यकि, राजा द्रुपद, द्रौपदी के पाँचों पुत्र, बड़ी भुजाओंवाला सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु इन सबने अपने-अपने शंख बजाये ॥ १७ । १८ ॥ बड़े-बड़े शंखों की उस भयङ्कर ध्वनि ने आकाश और पृथ्वी में गूँजकर धृतराष्ट्र के पुत्रों के कलेजे फाड़ डाले ॥ १९ ॥ हे पृथ्वीनाथ ! इसके अनन्तर वानर की ध्वजावाले अर्जुन ने जब देखा कि कौरव-सेना सब तरह से लड़ने को तैयार खड़ी है और हथियार चलाना ही चाहती है, तब उसने अपना धनुष सँभालकर

* शिखण्डी उसे कहते हैं, जिसके मूछें न हों।

भगवान् श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहाः—॥२०॥ "हे अच्युत!* दोनों सेनाओं के बीच में मेरा रथ आप खड़ा कीजिए। मैं इन युद्ध की कामना से खड़े हुए योधाओं को अच्छी तरह देखना चाहता हूँ कि कौन-कौन मुझसे युद्ध करने की इच्छा करते हैं और मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना चाहिए। जो धृतराष्ट्र के दुर्बुद्धि पुत्र—दुर्योधन—की भलाई की इच्छा से युद्ध करने के लिए, इस रणभूमि में आये हैं, उन्हें मैं अच्छी तरह से देखना चाहता हूँ" ॥२१।२२।२३॥ संजय ने कहाः—हे भारत† (धृतराष्ट्र)! गुडाकेश अर्थात् अर्जुन के ऐसा कहने पर, भगवान् कृष्णचन्द्र ने, उस उत्तम रथ को दोनों

---

* अच्युत—अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा से न हटनेवाला। † भारत भरत की सन्तान।

सेनाओं के बीच में खड़ा करके, भीष्म, द्रोण और सब राजाओं के सामने अर्जुन से कहाः—हे पार्थ ! * (अर्जुन) इन एकत्र हुए कौरवों को तू देख" ॥ २४।२५ ॥ वहाँ अर्जुन ने दोनों सेनाओं के बीच में खड़े हुए चाचाओं, दादों, गुरुओं, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों, ससुरों और सुहृदों को ही देखा ॥ २६ ॥ उन सब कुटुम्बियों को देखकर अर्जुन के जी में बड़ी दया उत्पन्न हो गई और वह दुःखी होकर यह कहने लगाः—॥२७॥ "हे कृष्ण ! इन अपने भाई-बन्धुओं को युद्ध करने की इच्छा से तय्यार खड़े हुए देखकर मेरे अंग ढीले होते जाते हैं, मेरा मुँह सूखा जाता

* पार्थ—पृथा अर्थात् कुन्ती का पुत्र—कुन्ती का दूसरा नाम पृथा था।

मेरा शरीर काँप रहा है और मेरे रोम खड़े हो रहे
हैं ॥२८॥२९॥ हे कृष्ण! गाण्डीव * धनुष हाथ से फिसला
जा रहा है मेरा शरीर जला जाता है, मुझमें खड़े होने
की शक्ति नहीं है और मेरा मन मानों भ्रम रहा है ॥ ३० ॥
हे केशव! मुझे शकुन भी बुरे दिखाई देते हैं और युद्ध में
अपने भाई बन्धु इत्यादि स्वजनों को मारने में मुझे तो
कुछ लाभ नजर नहीं आता ॥ ३१ ॥ हे कृष्ण! मैं अपने
बन्धुओं को मारकर विजय, राज्य और सुख नहीं चाहता
हूँ हे गोविन्द*! † तब फिर राज्य, सुख-भोग और जीवन

* गोविन्द कृष्ण का नाम है जिसे वेदान्त उपनिषदों का ज्ञान होता है
* गोविन्द कृष्ण का नाम है जिसे वेदान्त उपनिषदों का ज्ञान हो जब गो... गोविन्द कहते हैं।
मधुसूदन ... मधु दैत्य को मारने ...

अर्थात् जीने से हमें क्या लाभ होगा ? ॥ ३२ ॥ जिनके
लिए हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं वही लोग धन
और प्राणों की आशा त्यागकर यहाँ रणभूमि में मरने
मारने को खड़े हैं ॥ ३३ ॥ ये हमारे गुरु, पितर (ताऊ चाचा-
आदि), पुत्र, दादा और ऐसे ही मामा, सुसुरे, पोते साले-
और सम्बन्धी हैं ॥ ३४ ॥ हे मधुसूदन ! * चाहे ये सब बान्धव-
मुझे मार भी डालें, पर मैं इन्हें इस पृथ्वी के लिए तो क्या
तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मारना नहीं चाहता ॥ ३५ ॥
हे जनार्दन ! † धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर भला हमें खुशी

---

* मधुसूदन—मधु दैत्य को मारनेवाले—कृष्ण। † जनार्दन—संसार को ब्रह्मरूप से उत्पन्न करने वाला—मनुष्यों को पुरुषार्थ और मुक्ति देनेवाला—भगवान् कृष्ण का नाम है।

खुशी होगी ? बल्कि इन दुष्ट पापियों को मारकर हम उलटा पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥ इसलिए अपने भाई-बन्धु धृतराष्ट्र के पुत्रों को हमें मारना उचित नहीं है। हे माधव!* अपने ही प्रियजनों को मारकर भला हम कैसे सुखी होंगे ॥ ३७ ॥ यद्यपि इन दुर्योधनादि की मति राज्य पाने के लालच से मारी गई है और इन्हें कुल के नाश होने में पाप और मित्रों से शत्रुता करने में दोष नहीं दिखाई देता तथापि हे जनार्दन (भगवान्)! हम तो कुल के नाश में बुराइयाँ देखते हैं, तब हम इस पाप से निवृत्त होने अर्थात् बचने का उपाय क्यों न करें ? ॥ ३८ । ३९ ॥ कुल के नाश

* माधव—मधु-कुलवाला—यादव-वंश में जो उत्पन्न हुआ अर्थात् कृष्ण भगवान्।

हो जाने पर सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं। परम्परा से चले आनेवाले धर्म के नाश हो जाने पर सारे कुल में अधर्म छा जाता है यानी वंश के कुल आदमी अधर्मी हो जाते हैं॥ ४०॥ और हे कृष्ण! अधर्म के फैल जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं। हे वार्ष्णेय! *स्त्रियों के खराब हो जाने पर वर्णसंकर † उत्पन्न होते हैं॥४१॥ व्यभिचारिणी स्त्रियों से जो वर्णसंकर पैदा होते हैं वे कुल का नाश कर देते हैं, और सारे कुल को नरक में पहुँचाते हैं क्योंकि

---

* वार्ष्णेय—कृष्ण भगवान् वृष्णिवंश में पैदा हुए थे इसलिए उनका नाम वार्ष्णेय पड़ा। जो ब्रह्मानन्दरूप अमृत को बरसाता है उसे वार्ष्णेय कहते हैं।

† वर्णसंकर—बदचलन स्त्रियों की सन्तान को "वर्णसंकर" कहते हैं।

उनका दिया हुआ पिण्ड और जल उनके पितरों को नहीं पहुँचता है, अतएव उनके पूर्वज नरक में गिर जाते हैं ॥४२॥ हे भगवन् ! कुलनाशक पुरुषों के इन वर्णसंकर फैलानेवाले दोषों से जाति और कुल के सनातनधर्म का नाश हो जाता है ॥ ४३ ॥ हे जनार्दन ! जिन पुरुषों के कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं वे सदैव नरक में पड़े रहते हैं, ऐसा हमने सुना है ॥ ४४ ॥ हा ! बड़े खेद की बात है, जो राज्य-सुख के लोभ से हम लोग भारी पाप करने को उद्यत हुए हैं यानी बन्धुजनों को मारने को तैयार हो गये हैं ॥ ४५ ॥ हे कृष्ण ! धृतराष्ट्र के पुत्र, हाथों में शस्त्र लेकर, मुझे ऐसी हालत में, जब कि मेरे हाथों में हथियार न हों और मैं

मुक़ाबला भी न करूँ, मुझे रण में मार डालें, तो यह कहीं अच्छा होगा" ॥ ४६ ॥ संजय बोलाः—"हे धृतराष्ट्र ! ऐसा कहकर तीरसहित धनुष को फेंककर शोक में डूबा हुआ अर्जुन रथ में पीछे की ओर जाकर बैठ गया" ॥ ४७ ॥

गीता के पहिले अध्याय का माहात्म्य



एक बार पार्वती ने महादेवजी से पूछा—"भगवन् ! आपने वैकुण्ठ-लोक प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के कर्मों का वर्णन किया, अब मैं गीता का माहात्म्य सुनना चाहती हूँ, जिसे सुनकर भगवान् विष्णु में भक्ति बढ़ती है और अन्त में वैकुण्ठलोक प्राप्त होता है। यदि आप मुझे प्यार करते हैं तो कृपा करके गीता का माहात्म्य कहिए।"

पार्वती के इस प्रकार पूछने पर, भगवान् शंकर सब लोकों के पूज्य विष्णु को नमस्कार करके कहने लगे—हे देवि ! विष्णु ने लक्ष्मी के पूछने पर श्रीमद्भगवद्गीता का जो माहात्म्य उनसे कहा था, वही मैं तुमसे कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो। एक बार लक्ष्मीजी ने भगवान् विष्णु से पूछा—

"हे भगवन्! आप सब लोकों से विरक्त होकर क्षीरसमुद्र में अकेले क्यों सोते इसका क्या कारण है?" विष्णुजी ने उत्तर दिया—"हे प्रिये! हम यहाँ सोते नहीं हैं, हम उस अनादि, अखण्ड, अक्षर, ज्योतिस्वरूप को दिव्य दृष्टि से देखते हैं, जिसके ध्यान में योगीजन सदा मग्न रहते हैं और महात्मा व्यासजी ने जिसके तत्त्व को समझकर, सम्पूर्ण वेद-शास्त्र-रूपी समुद्र को मथकर गीताशास्त्र निकाला है; उसी आनन्दस्वरूप में मग्न रहकर हम इस क्षीरसमुद्र में सोते हुए के समान निवास करते हैं।"

विष्णु भगवान् के मुँह से गीताशास्त्र की यह महिमा सुनकर लक्ष्मी-जी ने पूछा—भगवन्! जिस गीताशास्त्र को व्यासजी ने सम्पूर्ण वेद-शास्त्ररूपी समुद्र से निकाला है, उसका माहात्म्य मुझसे कहिए।

भगवान् ने कहा—श्रीभगवद्गीता वाङ्मयी ईश्वर की मूर्ति है। आदि

के पाँच अध्याय उस मूर्ति के मुख हैं, छठे से पंद्रहवें तक दस अध्याय उसकी भुजाएँ, सोलहवाँ अध्याय उसका उदर, सत्रहवाँ और अठारहवाँ अध्याय उसके चरण हैं उस माहेश्वर-मूर्ति का दर्शन केवल ज्ञान-दृष्टि से होता है और जो पुरुष उस मूर्ति का दर्शन करता है, उसके सब पाप छूट जाते हैं। गीता का एक अध्याय, आधा अध्याय, एक श्लोक, आधा श्लोक अथवा केवल चौथाई श्लोक का अभ्यास करने से मनुष्य सुशर्मा के समान निष्पाप होकर वैकुण्ठलोक को जाता है। लक्ष्मी ने पूछा—भगवन्! सुशर्मा कौन था और कैसे उसकी मुक्ति हुई, सो मुझसे कहिए। भगवान् ने कहा—हे देवि! सुशर्मा नाम का एक दुराचारी ब्राह्मण था। वह पापकर्म करने के सिवा जप, होम अथवा अतिथि-सत्कार कभी नहीं करता था। वह खेती करता, मदिरा पीता, मांस खाता और हमेशा विषय-भोग में समय बिताता था। वह एक दिन बकरी को खिलाने के लिए

बाग़ में पत्ते तोड़ने गया। वहाँ उसे साँप ने काट खाया। वह मरकर यम-लोक को गया। अपने पापों के फल से बहुत वर्षों तक, नरक में रहकर फिर मृत्युलोक में आकर बैल हुआ। उस बैल को एक भिखमंगे लँगड़े ने मोल लिया। वह उस पर चढ़कर भीख माँगता था। पेट भर चारा न पाने से वह बैल बहुत दुबला हो गया। एक दिन मार्ग में चलते-चलते थक-कर गिर पड़ा और बेहोश हो गया। उसकी आँखें निकल आईं, मुँह से फेना निकलने लगा, किन्तु इतने पर भी, पूर्वजन्म के पापों के फल से उसके प्राण नहीं निकलते थे। गाँव के लोग वहाँ इकट्ठा हो गये, उसका दुःख देखकर सबको तरस आया। उसकी शीघ्र मृत्यु हो जाय और वह इस क्लेश से छुटकारा पा जाय सब लोग ईश्वर से यही प्रार्थना करने लगे। कोई-कोई कहने लगे—"हम अपना अमुक पुण्य इस बैल को देते हैं, उसके प्रभाव से इसका दुःख छूट जाय।" भीड़ देखकर एक वेश्या

भी वहाँ आ गई। उसने भी कहा—"हमारे पुण्य के प्रताप से इस बैल का दुःख छूट जाय।" यद्यपि उसने अपनी जान में कोई पुण्य तो नहीं किया था—केवल हँसी में यह कह दिया था—किन्तु वह बैल उसी दम मर गया और उस वेश्या के पुण्य के प्रभाव से उसने एक ब्राह्मण के घर में जन्म लिया। उसी पुण्य के फल से उसे अपने पूर्वजन्म का सब वृत्तान्त स्मरण (याद) था। उसने वेश्या के पास जाकर उससे पूछा—"तुमने वह कौन बड़ा पुण्य किया था, जिसके प्रभाव से हमको बैल की योनि से छुटकारा दिलाकर ब्राह्मण के घर में जन्म दिलाया? क्या हमको भी उस शुभ कर्म का उपदेश दे सकती हो?" वेश्या ने उत्तर दिया—"हमने अपनी समझ में तो कभी कोई पुण्य किया नहीं, आपको क्या बतावें हाँ, हमारे यहाँ यह तोता पला है, यह सबेरे कुछ पढ़ता है। इसकी बोली हमको बहुत प्यारी लगती है और हम उसे ध्यान से सुना करती हैं।" तब

उस ब्राह्मण ने तोते से पूछा—"तुम क्या पढ़ते हो ?" तोते ने कहा—"हम पहले एक मुनि के आश्रम पर रहते थे। मुनि के शिष्य प्रतिदिन गीता के पहिले अध्याय का पाठ किया करते थे। हम भी उनसे सुनकर वह अध्याय पढ़ने लगे। एक बहेलिया हमको वहाँ से पकड़ लाया और इस वेश्या के हाथ बेच दिया, तब से हम इस पिंजरे में रहते हैं और रोज़ सुबह गीता का पहिला अध्याय—जिसे मुनि के आश्रम पर सीखा था—पढ़ते हैं।"तोते की यह बात सुनकर वह ब्राह्मण उसी दिन से प्रतिदिन गीता के पाहिले अध्याय का पाठ करने लगा।

विष्णुजी ने लक्ष्मी से कहा—हे देवि ! अन्त को वे तीनों—तोता, वेश्या और वह ब्राह्मण—गीता के पहिले अध्याय के प्रभाव से वैकुण्ठधाम को गये।

दूसरा अध्याय

(सांख्ययोग)

संजय ने कहा—

इस प्रकार दया से परिपूर्ण, आँखों में आँसू भरे हुए, दुःखी अर्जुन से मधुसूदन अर्थात् कृष्ण भगवान् यह कहने लगे ॥ १ ॥

"हे अर्जुन ! इस रणभूमि में, तुझमें कायरपना कहाँ से आ गया ? इस प्रकार लड़ाई से मुँह मोड़ना आर्य पुरुषों

को शोभा नहीं देता। यह कायरता स्वर्ग से राहत रखने-वाली अर्थात् नरक में ले जानेवाली है और लोक-परलोक में अपकीर्ति फैलानेवाली है ॥ २ ॥ हे अर्जुन ! तू कायर मत बन। यह कायरता तेरे जैसे शूरवीर के योग्य नहीं। हे शत्रुओं को तपानेवाले (अर्जुन)! अपने हृदय का इस तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर तू युद्ध के लिए उठ खड़ा हो" ३॥

अर्जुन ने कहाः—"हे मधु दैत्य को मारनेवाले, हे शत्रुओं का नाश करनेवाले भगवान् कृष्णचन्द्र ! भीष्म और द्रोण मेरे पूज्य हैं। युद्ध में इन दोनों पर बाण कैसे चलाऊँ ? ॥ ४ ॥ इन महाप्रतापी पूजनीय गुरुओं को मारने की अपेक्षा यदि इस लोक में मुझे भीख माँगना पड़े तो ऐसा करना मेरे लिए

श्रेष्ठ है। तौभी गुरुओं को अगर मैं मारूँ तो इस लोक में ही मैं खून से सने हुए भोगों को भोगूँगा ॥ ५ ॥ हे भगवन् ! मैं नहीं जानता कि मेरे लिए भीख माँगना या युद्ध करना, इन दोनों में से कौन-सा धर्म श्रेष्ठ है। मैं यह भी नहीं जानता कि हम कौरवों को जीतेंगे या वे हमें। जिनको मारकर हम जीना नहीं चाहते वही सब कौरव सम्मुख लड़ने के लिए खड़े हैं ॥ ६ ॥ अज्ञान के कारण मेरी बुद्धि मारी गई है, मोह के मारे मैं अपने धर्म को भी नहीं पहचान सकता; इसलिए जो इस समय कर्त्तव्य हो, वह करने की इच्छा से मैं आपसे पूछता हूँ कि जिससे मेरी भलाई हो, वही मुझे निश्चय करके बताइए। मैं आपकी शरण हूँ ; मैं आपका

शिष्य हूँ ; मुझे शिक्षा दीजिए ॥ ७ ॥ हे भगवन् ! आपसे उपदेश लेने का एक बड़ा भारी कारण यह भी है कि यदि मैं शत्रुरहित धन-धान्य-पूर्ण पृथ्वी का राजा भी हो जाऊँ और इन्द्र आदि देवताओं पर भी मैं ही शासन करने लगूँ, तो भी मुझे ऐसा पुरुष कोई नहीं दीखता, जो मेरे इस इन्द्रिय को सुखानेवाले शोक को दूर कर सके" ॥ ८ ॥

संजय बोलाः—"हे धृतराष्ट्र! निद्रा को जीतनेवाला तथा शत्रुओं को तपानेवाला अर्जुन गोविन्द से यह कहकर कि "मैं युद्ध नहीं करूँगा" चुप हो गया ॥ ९ ॥ हे धृतराष्ट्र! हृषीकेश* अर्थात् भगवान् कृष्ण ने, दोनों सेनाओं के बीच

* हृषीकेश—इन्द्रियों का स्वामी अर्थात् ईश्वर या कृष्ण भगवान् ।

में, उस दुःखी अर्जुन से हँसते हुए इस प्रकार कहा ॥ १० ॥

भगवान् बोले—

हे अर्जुन ! जो शोक करने योग्य नहीं, उनका तू शोक करता है और पण्डितों की सी बातें कहता है; किन्तु पण्डित लोग मरे अथवा जीते किसी प्राणी के लिए शोक नहीं करते ॥ ११ ॥ मैं, तू और ये राजा लोग पहिले कभी नहीं थे, ऐसा नहीं है और इसी तरह इस शरीर के छूटने पर हम सब लोग न रहेंगे, ऐसा भी नहीं है ॥ १२ ॥ देही (देह में रहनेवाला) जिस प्रकार इस देह यानी शरीर में बालपन, जवानी और बुढ़ापे का अनुभव करता है, उसी प्रकार वह

एक देह छोड़कर दूसरी देह बदलता है। धीर पुरुष इस बात में मोह नहीं करते अर्थात् एक देह के नाश होने पर अथवा नये के प्राप्त होने पर न तो घबराते हैं और न शोक करते हैं ॥१३॥ हे कुन्ती-पुत्र! इन्द्रियों के साथ विषयों का सम्बन्ध होने से ही गरमी-सरदी और सुख-दुःख होते हैं। वे सब आने जानेवाले और अनित्य हैं। हे भारत! तू उनको सह ॥१४॥ हे पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन! जिस ज्ञानी पुरुष को ये विषय दुःख नहीं पहुँचाते, जो सुख और दुःख को समान समझता है, वह निस्सन्देह मोक्ष पाने का अधिकारी हो जाता है॥१५॥ असत् * का भाव नहीं होता और सत् † का अभाव नहीं होता,

* असत् जो यथार्थ में न हो, जैसे शरीर। † सत् जो यथार्थ में हो, जैसे आत्मा।

तत्त्वज्ञानियों ने इन दोनों का अन्त भले प्रकार अनुभव किया है ॥ १६ ॥

हे अर्जुन! जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है अर्थात् जो इस तमाम दुनिया और आकाश में छा रहा है उसे तू अविनाशी जान यानी उसे ही तू आत्मस्वरूप ब्रह्म समझ। उस अविनाशी–ब्रह्म–का कोई भी नाश नहीं कर सकता॥ १७॥ इस देह में रहनेवाला आत्मा नित्य, अविनाशी और अप्रमेय* है; किन्तु यह शरीर नाशवान् है; इसलिए हे अर्जुन! तू युद्ध कर ॥ १८ ॥

जो यह समझता है कि आत्मा मारनेवाला है और जो इस-

* अप्रमेय–प्रमाणों का अविषय अर्थात् प्रमाण रहित क्योंकि आत्मा स्वयं सिद्ध है।

का मरा हुआ जानता है, वे दोनों (पुरुष) अज्ञानी अर्थात मूर्ख हैं। आत्मा न तो किसी को मारता है और न आप मारा जाता है॥ १९ ॥ हे अर्जुन! यह आत्मा न कभी जन्म लेता है और न कभी मरता है। इसी प्रकार ऐसा भी कभी नहीं होता कि वह पहले न हो और बाद को हो या पहले हो और बाद को न हो। यह अजन्मा, नित्य, सदा एकरस और पुराना है अर्थात् यह आत्मा सदा रहनेवाला और सब से प्राचीन है। न इसमें कभी कमी होती है और न अधिकता होती है। शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता॥ २० ॥ हे अर्जुन! जो इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और निर्विकार जानता है वह किसी को

कैसे मरवा सकता है या मार सकता है ॥ २१ ॥ जिस प्रकार मनुष्य फटे-पुराने कपड़ों को त्यागकर नये कपड़े धारण करता है, उसी प्रकार शरीर में रहनेवाला—आत्मा—जीर्ण शरीरों को छोड़कर दूसरे नये शरीरों को धारण करता है ॥ २२ ॥

शस्त्र इसे छेद नहीं सकते, अग्नि इसे जला नहीं सकती, जल इसे गला नहीं सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकता ॥२३॥ यह न तो काटा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न जल डालकर भिगोया जा सकता है और न वायु द्वारा सोखा जा सकता है। यह नित्य है, सर्वव्यापक है, अटल है इसलिए अचल है। यह किसी कारण से पैदा नहीं हुआ है, नया नहीं है अतएव सनातन है ॥ २४ ॥ यह आत्मा

अव्यक्त है अर्थात् अप्रकट या मूर्तिरहित है। यह अचिन्त्य है अर्थात् इसकी सूरत ध्यान में नहीं आ सकती है; यह अविकार्य है अर्थात् आत्मा में विकार या फेरफार नहीं होता; इसलिए, इसे ऐसा समझकर, तुझे शोक न करना चाहिए ॥२५॥ हे बड़ी भुजाओंवाले अर्जुन! अगर तू इस आत्मा को नित्य जन्म लेनेवाला और सदा मरनेवाला मानता है, तो भी तुझे इस प्रकार शोक न करना चाहिए ॥२६॥ जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु अवश्य ही होगी और जो मर गया है वह अवश्य ही जन्म लेगा; इसलिए तुझे इस अटल-ज़रूर होनेवाली-बात पर शोक न करना चाहिए ॥ २७॥ हे अर्जुन! भूतों (प्राणियों या पदार्थों) का

आदि अव्यक्त है, मध्य व्यक्त है और उनका अन्त फिर अव्यक्त है फिर उनके विषय में विलाप कैसा ? यानी ये प्राणी आरम्भ में किसी को दिखाई नहीं देते, बीच में दिखाई देते हैं और अन्त में, मरने बाद, फिर नहीं दीखते। ऐसों के लिए शोक करने की क्या ज़रूरत है ? ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! इस आत्मा को कोई आश्चर्यजनक चीज़ की तरह देखता है; कोई इसे आश्चर्यजनक चीज़ की तरह कहता है; कोई इसे आश्चर्यजनक चीज़ की तरह सुनता है; सुनकर भी कोई इसको ठीक-ठीक नहीं समझ पाता अर्थात् बिरला ही इसे ठीक समझ पाता है ॥ २९ ॥ हे अर्जुन ! सब प्राणियों के शरीर में रहनेवाला आत्मा सदा अवध्य (न मारे जाने-

वाला) है; इसलिए तुझे किसी प्राणी के लिए शोक न करना चाहिए ॥ ३० ॥

अपने क्षत्रिय-धर्म को देखकर भी तुझे युद्ध करने से हिचकना न चाहिए; क्योंकि क्षत्रियों के लिए धर्म-युद्ध से बढ़कर और उत्तम कोई काम नहीं है॥३१॥ हे अर्जुन ! अपने आप प्राप्त हुआ युद्ध करने का ऐसा अवसर स्वर्ग का खुला दरवाज़ा है। ऐसा मौक़ा बड़े भाग्यवान् क्षत्रिय ही पाते हैं; यानी युद्ध-भूमि में लड़कर मरने से क्षत्रिय सीधा बिना रोक-टोक स्वर्ग में चला जाता है॥३२॥ लेकिन अगर तू इस धर्मरूप संग्राम में नहीं लड़ेगा तो क्षत्रिय-धर्म और कीर्ति को त्यागकर पाप का भागी बनेगा ॥ ३३ ॥ और लोग सदा तेरी निन्दा

किया करेंगे। माननीय (प्रसिद्ध प्रतिष्ठावान् या इज़्ज़त-वाले) पुरुष के लिए अपयश की अपेक्षा मरना अति उत्तम है अर्थात् भले आदमी के लिए बदनामी उठाने से मरना कहीं अच्छा है॥ ३४॥ महारथी लोग समझेंगे कि अर्जुन भय के कारण रण-भूमि से भाग गया है। जो लोग आज तेरा मान करते हैं उन्हीं की नज़रों में तू नीचा हो जायगा॥ ३५॥ तेरे शत्रु तेरे बल की निन्दा करते हुए, तेरे लिए बहुत से अपशब्द (गालियाँ) कहेंगे और तरह-तरह की बातें सुनावेंगे, इससे अधिक दुःख और तुझे क्या होगा॥ ३६॥ अगर तू युद्ध में मारा गया तो तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा, अगर जीत गया तो पृथ्वी का राज्य भोगेगा; इसलिए, हे अर्जुन!

युद्ध के लिए पक्का विचार करके उठ ॥३७॥ सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीत-हार इनको समान जानकर युद्ध करने की तैयारी कर। इस प्रकार युद्ध करने से तू किसी प्रकार के पाप का भागी न होगा ॥ ३८ ॥ यह मैंने तुझे आत्मज्ञान बताया, अब कर्मयोग के विषय में सुन, जिस ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर, हे अर्जुन! तू कर्म-बन्धनों से छुटकारा पा जायगा ॥३९॥

इस कर्मयोग में जो कुछ भी किया जाता है, वह बेकार नहीं जाता और न इसमें पाप लगता है। यह धर्म, किसी भी अंश में किया जाय, बड़े भारी भय से बचाता है ॥४०॥

हे कुरुनन्दन! इस विषय में निश्चय-स्वरूपिणी बुद्धि तो एक है किन्तु जिनका निश्चय दृढ़ नहीं है, उनकी नाना

प्रकार की शाखावाली अनन्त बुद्धियाँ हैं ॥ ४१ ॥

जो वेदों के वाक्यों पर मोहित हैं, जो कहते हैं कि इस वेदवाद के सिवाय और कुछ नहीं है, जो इच्छा से भरे हुए हैं, जो स्वर्ग ही को परम श्रेष्ठ माननेवाले हैं, वे मूर्ख हैं। वे कहते हैं कि कर्मों के फल से जन्म मिलता है अर्थात् इसी कारण से मनुष्य इस लोक में बारम्बार आकर जन्म लेते हैं और मरते हैं। और अमुक-अमुक क्रियाओं के करने से सुख तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। जो भोग ऐश्वर्य में फँसे हुए हैं, जिनका चित्त ऐसी मीठी-मीठी बातों से बहँका हुआ है, ऐसे पुरुषों की बुद्धि ईश्वर-ध्यान में स्थिर नहीं होती ॥ ४२, ४३, ४४ ॥ वेदों में सतोगुण, रजोगुण, तमो-

गुण इन तीन गुणों के कार्य का वर्णन है। हे अर्जुन! तू इन तीन गुणों से अलग हो जा यानी स्वर्गादि फल की इच्छा से रहित हो जा। सुख-दुःख, जीत-हार और पुण्य-पाप आदि का ख़्याल मत कर। हर घड़ी परमात्मा का ध्यान कर। योगक्षेम से रहित हो अर्थात् जो वस्तु नहीं है उसके प्राप्त करने की और जो है उसकी रक्षा करने की चिंता मत कर। संसारी विषयों में न फँसकर और ईश्वर को अपना मालिक समझकर निरन्तर उसी के ध्यान में रह॥ ४५॥

जितना मतलब तालाब, बावड़ी, कूप और नदी इत्यादि से निकलता है, उतना ही सब ओर से उमड़ते हुए परिपूर्ण समुद्र से निकलता है, इसी प्रकार जितना आनन्द अनेक

प्रकार के वेदोक्त(अग्निहोत्र, अश्वमेध आदि)कर्म करने से मिलता है यानी स्वर्ग और स्त्री, पुत्र आदि से जो सुख प्राप्त होता है, उतना ही (बल्कि उससे अधिक) आनन्द निष्काम ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण को एकमात्र ब्रह्मविद्या या ईश्वर के ज्ञान से प्राप्त होता है ॥४६॥ हे अर्जुन, तू अभी कर्म करने योग्य है, इसलिए कर्म कर, कर्मफल के लालच से कर्म न कर। जो कर्म तू करे उसके फल की इच्छा मत कर। इसी प्रकार काम करने से मुँह भी मत मोड़। कर्मफल की चाहना ही जन्म-मरण की जड़ है अतएव मनुष्य को निष्काम होकर कर्म करना ही सबसे अच्छा है ॥ ४७ ॥ हे धनञ्जय ! 'योग' ज्ञान का मार्ग है। इसमें स्थिर चित्त होकर अपने किए हुए

कामों के फलों की लालसा छोड़कर, सिद्धि-असिद्धि अर्थात् सफलता असफलता का एक बराबर समझता हुआ काम कर। सिद्धि-असिद्धि में समान रहने का नाम ही 'योग' है॥ ४८॥

हे धनञ्जय ! कर्मफल की इच्छा त्यागकर जो काम किया जाता है, वह कर्मफल की कामना रखकर किए हुए काम से अत्यन्त श्रेष्ठ है। इसलिए तू परमात्मा विषयक बुद्धि अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति के लिए निष्काम कर्मयोग का साधन कर। इसके विपरीत जो लोग कर्मफल पाने की इच्छा से कर्म करते हैं, वे मूर्ख हैं॥ ४९ ॥ *

---

* श्रुति में लिखा है कि "जो मनुष्य, मनुष्य-देह पाकर भी, इस संसार से, परब्रह्म परमात्मा को विना जाने ही चला जाता है, वह पुरुष मन्दभागी है।"

जो बुद्धि-योग–सिद्धि-असिद्धि में समान भाव–से कर्म करता है उसका चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त के शुद्ध होने पर ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। ज्ञान से वह पुण्य-पाप दोनों को इसी लोक में छोड़ देता है, इसलिए तू योग के लिए कर्म में लग जा। कामों के बीच में योग ही कल्याणरूप है, क्योंकि इसी रीति से मनुष्य कर्मबन्धन से छूट जाता है और मोक्ष को प्राप्त होता है॥ ५० ॥

अब भगवान् कर्मयोग के फल को कहते हैं:—

समत्व बुद्धि से युक्त ज्ञानी पुरुष, कर्मफल को त्याग-कर, आत्मज्ञान के प्रभाव से जन्म-बन्धन से छूटकर, उस

अविनाशी स्थान—निर्वाण-पद—को चले जाते हैं, जहाँ किसी प्रकार का दुःख नहीं है ॥५१॥ जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदल अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, रत्न इत्यादि सांसारिक विषयों को पार कर जायगी, तब कर्मों के स्वर्गादिक फलों के सम्बन्ध में आज तक जो कुछ तूने सुना है या जो कुछ तू सुनेगा, उससे तेरा मन हट जायगा यानी तुझको वैराग्य प्राप्त हो जायगा ॥ ५२ ॥

अनेक प्रकार के शास्त्र पढ़ने से व नाना प्रकार के वेद-मन्त्र सुनने से तेरी बुद्धि व्याकुल हो गई है। जब यह मोह-जाल को उल्लंघन करके इधर-उधर भटकने से बंद हो जायगी अर्थात् जब इसके संशय दूर हो जायँगे, तब यह

अचलरूप से आत्मा के ध्यान में लग जायगी। उसी समय तुझे योग की प्राप्ति होगी ॥ ५३ ॥

अर्जुन बोलाः—हे केशव! (केशी दैत्य के मारनेवाले) भगवान् कृष्णचन्द्रजी! समाधि में स्थित हुए, स्थिर-बुद्धि पुरुष के क्या लक्षण हैं? स्थिर-बुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता और किस तरह चलता फिरता है? ॥ ५४ ॥

भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! जब पुरुष मन में आई हुई सारी इच्छाओं को छोड़ देता है, आत्मा के ही ध्यान में मग्न रहता है, आत्मा से ही सन्तुष्ट और प्रसन्न रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ या स्थिर बुद्धिवाला कहलाता है ॥ ५५ ॥

जो दुःख* के आ पड़ने से मन में दुःखी नहीं होता, जो सुख† के समय सुख भोगने की इच्छा नहीं करता, जो किसी चीज़ से प्रीति नहीं रखता, जिसे किसी से भय नहीं है और जो क्रोधरहित है वह महात्मा "स्थिर बुद्धिवाला" कहा जाता है ॥ ५६ ॥ जो किसी चीज़ से स्नेह यानी प्रेम नहीं

---

* दुःख तीन प्रकार के होते हैं:—(१) आध्यात्मिक (२) आधिभौतिक (३) आधिदैविक। ज्वर खाँसी आदि रोगों से जो दुःख होते हैं, उनको आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। साँप, भालू और सिंह आदि पशुओं के कारण जो दुःख होते हैं, उनको आधिभौतिक दुःख कहते हैं। वायु, अग्नि, वृष्टि इत्यादि के कारण जो कष्ट होता है, उसे आधिदैविक दुःख कहते हैं। † सुख तीन तरह के होते हैं:—शरीर के नीरोग रहने से अथवा प्यारी चीज़ों के याद आने से जो सुख मिलता है, उसे आध्यात्मिक सुख कहते हैं। माता, पिता, स्त्री, पुत्र और अपने रिश्तेदारों से जो सुख मिलता है, उसे आधिभौतिक सुख कहते हैं। शीतल सुगन्धित वायु, बरसात में वर्षा आदि के होने से जो सुख प्राप्त होता है, उसे आधिदैविक सुख कहते हैं।

रखता ; जो अच्छी चीज़ को पाकर प्रसन्न नहीं होता और बुरी चीज़ को पाकर अप्रसन्न नहीं होता, उसकी बुद्धि निश्चल यानी ठहरी हुई होती है ॥ ५७ ॥ हे अर्जुन ! जिस प्रकार कछुआ (भय के कारण) सब ओर से अपने अङ्गों को समेट लेता है, उसी प्रकार जब योगी राग-द्वेष आदि के डर से अथवा समाधि में विघ्न होने के भय से अपनी आँख, कान आदि इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर कही जाती है ॥५८॥

निराहारी पुरुष की विषयों से निवृत्ति हो जाती है अर्थात् असमर्थ होने के सबब से वह विषयों की इच्छा नहीं करता, किन्तु विषयों की प्रीति उसके मन से नहीं जाती ;

लेकिन वह योगी जो परमात्मा को (आत्मसाक्षात्कार से) साक्षात् देख लेता है, उसके हृदय में विषयों की प्रीति नहीं रहती (क्योंकि आत्मानन्द के सामने विषयानन्द नितान्त तुच्छ और हलका पड़ जाता है) ॥५९॥ हे अर्जुन! उपाय करते हुए अर्थात् हर समय इन्द्रियों को वश करने की कोशिश करते हुए, बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी, यह आँख, कान, नाक आदि प्रबल इन्द्रियाँ, उसके मन को ज़बरदस्ती काबू में ले आती हैं अर्थात् तत्त्व-चिन्तन से हटाकर विषय-चिन्तन में लगा देती हैं। अतएव उन सब इन्द्रियों को वश में कर, दृढ़ चित्त हो, मनुष्य को मेरे ही ध्यान में लौ लगाकर बैठना चाहिए। जिसने अपनी

इन्द्रियों को इस प्रकार वश में कर लिया है, उसी की बुद्धि स्थिर है॥ ६०-६१॥

हे अर्जुन! जो पुरुष विषयों का ध्यान करते हैं, उनके मन में विषयों के लिए प्रीति उत्पन्न हो जाती है; प्रीति से काम (इच्छा) उत्पन्न होता है; काम से क्रोध पैदा होता है; क्रोध के पैदा होने से अविवेक या अज्ञान पैदा होता है। मोह अर्थात् अज्ञान से स्मृति का नाश होता है। स्मृति-हीनता से बुद्धि (CONSCIENCE) का नाश होता है और बुद्धि के नाश होने पर मनुष्य आप नष्ट हो जाता है अर्थात् वह आत्मिक उन्नति से गिर जाता है॥ ६२-६३॥

जिसने अपने मन को अपने वश में कर रक्खा है; वह

मनुष्य, राग-द्वेष (प्रीति-घृणा) से रहित अपने वश की हुई इन्द्रियों से विषयों को भोगता हुआ भी शान्ति लाभ करता है ॥ ६४ ॥

शान्ति से योगी के शारीरिक और मानसिक सब दुःखों का नाश हो जाता है, क्योंकि शुद्ध चित्तवाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही निश्चल वा स्थिर हो जाती है यानी वह दृढ़ता से आत्मा के ध्यान में लग जाती है ॥ ६५ ॥ जिसका मन अपने वश में नहीं अर्थात् इधर-उधर विषयों में दौड़ता रहता है, उसकी बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती; जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है उसे आत्मज्ञान नहीं हो सकता अर्थात् आत्मा के स्वरूप को नहीं जान सकता; जिसे

आत्मज्ञान नहीं है, उस पुरुष को भला शान्ति कैसे मिल सकती है? और अशान्त चित्तवाले को सुख कहाँ से मिल सकता है? ॥ ६६ ॥

विषयों में भटकनेवाली इन्द्रियों में से जिस एक इन्द्रिय के अधीन मन हो जाता है तो वह इन्द्रिय (जिसका साथी मन हुआ है) योगी की आत्मविषयक बुद्धि का इस प्रकार नाश कर देती है जिस तरह पवन जल में पड़ी हुई नौका को मार्ग से हटाकर कुमार्ग में लगा देता है। इसलिए हे अर्जुन! उसी योगी की बुद्धि स्थिर है जिसने अपनी इन्द्रियों को शब्दादिक सब विषयों से हटा लिया है ॥ ६७-६८ ॥

जो सब प्राणियों की रात है, वही अपनी इन्द्रियों को

अपने वश में रखनेवाले, विचारवान् पुरुषों के लिए जागने का समय है और जिस समय सब प्राणी जागते हैं, वह समय संयमी (मन को जीतनेवाले) पुरुष के लिए रात है ॥६९॥

भावार्थ—जहाँ अज्ञानरूपी अँधेरा छाया हुआ है, वह रात के समान है और जहाँ ज्ञानरूपी सूर्य उदय है वह दिन के सदृश है। इसीलिए अज्ञान को रात की समता दी है और ज्ञान को दिन की। तात्पर्य यह है कि मन को जीतनेवाला पुरुष अपने स्वरूप की ओर से तो जागता रहता है, किन्तु संसार की ओर से सोता रहता है। इस प्रकार इन दोनों में भेद है, जिसे भगवान ने ऊपर के श्लोक में कहा है।

(२) विषयों में फँसे हुए मनुष्यों के लिए आत्मज्ञान रात के समान है, किन्तु वही आत्मज्ञान इन्द्रियों के जीतनेवाले पुरुषों के लिए दिन के समान है। इसी प्रकार इस असार संसार विषयों का सुख अज्ञानियों के लिए दिन के सदृश है, मगर ज्ञानियों के लिए रात के समान। अर्थात् वे विषय-भोगों को तुच्छ समझते हैं।

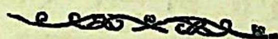
हे अर्जुन! जिस प्रकार समुद्र में चारों ओर से जल आ

कर उसमें प्रवेश करता है अर्थात् नदियाँ चारों ओर से बहकर उसमें आ गिरती हैं किन्तु उसकी सीमा–मर्यादा–ज्यों की त्यों बनी रहती है उसी प्रकार जो मनुष्य नाना प्रकार की इच्छा-नदियों के आ मिलने से घटता बढ़ता नहीं, किन्तु समुद्र की तरह गंभीर और स्थिर-बुद्धि रहता है वही शान्ति प्राप्त करता है, किन्तु जो इन इच्छाओं के फेर में पड़ता है उसे शान्ति नहीं मिलती अर्थात् उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती ॥ ७० ॥ इसलिए जो संन्यासी, सब प्रकार की कामनाओं–इच्छाओं–को त्यागकर, विना किसी लालसा, ममता और अहंकार के विचरता है अर्थात किसी चीज़ के पास न होने पर उसकी इच्छा नहीं करता,

पास होने पर उसमें ममता नहीं रखता, जो अपने शरी
के क़ायम रखने की भी इच्छा नहीं करता और जि
अपने ज्ञान का अहंकार भी नहा है वही स्थिर बुद्धिवाल
ज्ञानी शान्ति (मोक्ष) लाभ करता है अर्थात् वह ब्रह्मज्ञान
हो जाता है ॥ ७१ ॥ हे अर्जुन ! यह ब्राह्मी स्थिति है, ज
इस अवस्था को पहुँच जाता है, वह माया-मोह में न
फँसता । अन्तकाल अर्थात् मरने के समय भी यदि पुरु
इस स्थिति में स्थित हो जाय, तो उसे ब्रह्मनिर्वाण (मोक्ष
की प्राप्ति होती है ॥ ७२ ॥



गीता के दूसरे अध्याय का माहात्म्य



भगवान् विष्णु ने लक्ष्मीजी से कहा—"हे देवि! अब दूसरे अध्याय का माहात्म्य कहता हूँ, सुनो। दक्षिण देश में पुरन्दरपुर नाम का एक नगर था। वहाँ देवशर्मा नाम का एक विद्वान् ब्राह्मण रहता था। वह बड़ा धार्मिक था, हमेशा साधु-अभ्यागतों का सत्कार, देवताओं और पितरों का पूजन तथा हवन किया करता था, किन्तु ऐसे शुभ आचरण करते रहने पर भी, देवशर्मा का मन शान्त न होता था। कुछ दिनों बाद उसे मित्रवान् नाम का एक ब्रह्मज्ञानी शान्तचित्त तपस्वी मिला। देवशर्मा ने मित्रवान् से पूछा—"हे तपोधन! म आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ, कृपा करके मुझे बतलाइए। मैं सदा धर्म का पालन करता हूँ—धर्म के विरुद्ध कोई

आचरण नहीं करता हूँ; किन्तु मेरा चित्त शान्त नहीं होता। मैं उस आत्मतत्त्व को जानना चाहता हूँ, जो एकमात्र संसार से मुक्त होने का मार्ग है।" ब्राह्मण का यह प्रश्न सुनकर मित्रवान् ने कहा—"मैं इस विषय में एक प्राचीन वृत्तान्त कहता हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो। गोदावरी नदी के किनारे प्रतिष्ठान नाम का एक नगर है। वहाँ दुर्दम नाम का एक ब्राह्मण रहता था। प्रतिष्ठानपुर राजा विक्रम के राज्य में था। राजा के दान-दक्षिणा से ही दुर्दम अपना जीवन-निर्वाह करता था। जब दुर्दम की मृत्यु हुई, तो यमराज के दूत उसके गले में फाँसी लगाकर यमपुरी को ले गये। वहाँ बहुत दिनों तक, सब नरकों का कष्ट भोगकर, उसे फिर एक ब्राह्मण के घर में जन्म मिला। युवा होने पर नीच कुल में उत्पन्न एक कर्कशा स्त्री से उसका विवाह हुआ। वह दुराचारिणी एक चाण्डाल पुरुष से प्रेम करने लगी। अपने पति को विघ्नरूप समझकर

एक दिन सोते समय उसका सिर काट डाला। दुर्दम मरकर यमलोक को गया और अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ अन्त को उसे बाघ का जन्म मिला। वह व्यभिचारिणी स्त्री भी मरने पर नरकों का कष्ट भोगकर बकरी हुई। एक दिन वन में उस बकरी को देखकर बाघ उसे मारने के लिए झपटा। किन्तु उसके समीप आते ही वह वैर छोड़कर चुप खड़ा रह गया। बकरी ने कहा—हे बाघ! तुम हमारा मांस क्यों नहीं खाते हो? तब बाघ ने उत्तर दिया—हम तुमको मार डालने के लिए दौड़े थे, किन्तु इस स्थान पर आकर, न मालूम क्यों, अब तुमको मारने को हमारा जी नहीं चाहता। मित्रवान् ने देवशर्मा से कहा—हे ब्राह्मण! उस स्थान पर एक ब्रह्मज्ञानी महात्मा रहते थे। वे गीता के दूसरे अध्याय का पाठ करते थे। उसी के प्रभाव से बाघ का बकरी को मारने का इरादा जाता रहा। बाघ और बकरी दोनों वैर छोड़कर उस आश्रम पर बैठ गये और गीता का

पाठ सुनने लगे। अन्त को वे दोनों शरीर छूटने पर वैकुण्ठलोक को गये। अतएव तुम भी गीता के दूसरे अध्याय का पाठ करो, इसी से तुम्हारा चित्त शान्त होगा और शरीर त्यागकर अक्षयलोक प्राप्त करोगे भगवान् शंकर ने पार्वती से कहा—उसी दिन से देवशर्मा गीता के दूसरे अध्याय का पाठ करने लगा। उन्हीं के प्रभाव से वह शान्ति से जीवन बिताकर अन्त में विष्णुलोक को गया।



तीसरा अध्याय

अर्जुन ने कहाः—

हे जनार्दन (कृष्ण)! यदि आप कर्मयोग से ज्ञानयोग को श्रेष्ठ समझते हैं, तो हे केशव आप मुझे इस भयानक कर्म युद्ध में क्यों लगाते हैं? आपकी मिली-जुली—उलझनदार—बातों के सुनने से मेरी बुद्धि चकरा गई है; इसलिए निश्चय करके केवल एक बात बतलाइए जिसके अनुसार चलने से

मेरा कल्याण हो ॥ १-२ ॥ अर्जुन की बात सुनकर भगवा
इस प्रकार कहते हैं:—हे अर्जुन! इस लोक में दो प्रकार क
राह हैं, यह मैं पहले ही बतला चुका हूँ, सांख्यवालों के लि
ज्ञानयोग की और योगियों के लिए कर्मयोग की ॥ ३
हे अर्जुन! कर्मों के न करने से कोई पुरुष कर्म-बन्धन
छुटकारा नहीं पा सकता और न कर्मों के त्याग देने से ह
सिद्धि प्राप्त होती है अर्थात् काम न करने से मनुष्य क
निष्कर्मभाव प्राप्त नहीं होता; क्योंकि केवल संन्यास ले
से, विना चित्त की वृत्तियों के शुद्ध हुए, किसी को सि
नहीं प्राप्त होती ॥ ४ ॥ असल बात यह है कि कोई भ
पुरुष क्षण भर भी विना काम किए नहीं रह सकता; क्योंकि

प्रकृति के सत्त्व, रज और तमोगुण के कारण प्राणीमात्र को विवश होकर काम करना ही पड़ता है ॥ ५ ॥ जो पुरुष कर्मेन्द्रियों * को रोककर कुछ काम तो नहीं करता किन्तु मन से इन्द्रियों के विषयों का स्मरण करता रहता है, वह पुरुष झूठा और कपटी है। परन्तु हे अर्जुन! जो आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों † को मन द्वारा वश करके, उनके

---

* हाथ, पाँव, मुँह, गुदा और लिंग—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। हाथ का विषय काम करना, पाँव का विषय चलना, मुँह का विषय भोजन करना या बोलना, गुदा का विषय मल त्यागना और लिंग का विषय मूत्र त्यागना या पेशाब करना है।

† आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। आँख का काम देखना, कानों का विषय सुनना, नाक का विषय सूँघना, जीभ का विषय चखना और त्वचा का विषय छूना है, इसी से हमें स्पर्शज्ञान होता है।

विषयों में मन न लगाकर, कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म करता है, वही श्रेष्ठ है। इसलिए तू अपना नियत कर्म कर, क्योंकि काम न करने से काम करना अच्छा है। अगर तू अपनी कर्मेन्द्रियों से कुछ भी काम न लेगा यानी काम करना छोड़ देगा तो तेरी यह जीवन-यात्रा भी सफल न होगी; अतएव मनुष्य को कर्मेन्द्रियों से काम लेना परमावश्यक है ॥ ६-८ ॥ यज्ञ अथवा ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए जो कर्म किए जाते हैं वे ही ठीक हैं; इनको छोड़कर जो कर्म किए जाते हैं, उनसे मनुष्य कर्म-बन्धन में फँस जाता है, जिससे जन्ममरण से मुक्त होने नहीं पाता। इसलिए हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! तू निष्काम होकर—मन में किसी प्रकार

की इच्छा न रखकर—केवल यज्ञ के लिए कर्म कर ॥ ९ ॥ आदिकाल में सृष्टि-रचना के समय प्रजापति यानी ब्रह्मा ने यज्ञसहित प्रजाओं को पैदा करके यह कहा:—"तुम सब इस यज्ञ द्वारा फलो-फूलो और यह तुम्हारी इच्छाओं को पूर्ण करे" ॥ १० ॥

"इस यज्ञ से तुम देवताओं की पूजा करो और उन्हें सन्तुष्ट करो, वे देवता तुम्हें सन्तुष्ट करेंगे और तुम्हारी वृद्धि करेंगे, इस प्रकार आपस में एक दूसरे को सन्तुष्ट करने से तुम्हारा सबका भला होगा ॥ ११ ॥ यज्ञ से सन्तुष्ट होकर, देवता तुमको निस्संदेह मनोवाञ्छित भोग (अर्थात् अन्न, पशु, स्वर्ण इत्यादि) देंगे।" और जो उनके दिए हुए

पदार्थों को विना उनके अर्पण किए ही स्वयं भोगता है व
निश्चय ही चोर है ॥ १२ ॥ जो मनुष्य बलिवैश्वदेव आ
पञ्चयज्ञ करने के पीछे जो अन्न बच रहता है उसे खाते हैं,
सारे पापों से छुटकारा पा जाते हैं, किन्तु जो विना य
किये अपने वास्ते पकाते और उसे खाते हैं वे पापी निश्च
ही पापों से भरा हुआ भोजन करते हैं ॥ १३ ॥ सब प्रा
अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षा होने से पैदा होता है, व
यज्ञ से होती है, यज्ञ कर्म से होता है; कर्म, ब्रह्म-सजी
शरीर-से उत्पन्न होता है और यह ब्रह्म अक्षर परब्रह्म
पैदा होता है इसलिए उस सर्वव्यापक परब्रह्म को सदा य
में मौजूद जानो ॥ १४-१५ ॥

हे अर्जुन! जो मनुष्य इस चक्र के अनुसार नहीं चलता यानी जो पुरुष जीते जी इस सृष्टि-क्रम के अनुसार काम करना छोड़ देता है, वह पापी अपनी इन्द्रियों के विषयों में लगा हुआ अपने जीवन को वृथा खोता है॥ १६ ॥

लेकिन जो पुरुष आत्मा (अपने आप) में ही मग्न रहता है (न कि विषयभोगों में), आत्मा से ही तृप्त रहता है (न कि अन्न पानादि से), आत्मा से ही सन्तुष्ट रहता है (न कि बाहरी धन सम्पत्ति से) ऐसे (ज्ञानवान् मस्त) पुरुष के लिए कुछ भी कर्म करने की ज़रूरत नहीं है। उसके लिए काम करना और न करना दोनों बराबर हैं। उसे प्राणिमात्र से किसी प्रकार का संबन्ध जोड़ने अथवा आश्रय लेने की भी

ज़रूरत नहीं है ॥ १७-१८ ॥ हे अर्जुन! तू इन्द्रियों को अप
वश में करके, करने योग्य कर्मों को कर। इन्द्रियों को जी
कर काम करता हुआ पुरुष परमगति अथवा मोक्ष को प्रा
होता है (अर्थात् वह परमपद या परमात्मा को पा सक
है) ॥ १९ ॥ जनक इत्यादि ज्ञानी पुरुष कर्म करते हुए
सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, इसलिए तुझे भी लोगों की भल
के लिये अथवा लोक-मर्यादा के अनुसार ही काम कर
चाहिए ॥ २० ॥ श्रेष्ठ पुरुष जिस चाल पर चलते हैं; दू
लोग भी उन्हीं के अनुसार चलते हैं। वे जिस बात को च
देते हैं, संसार उसी पर चलने लगता है ॥ २१ ॥ हे अर्जु
तीनों लोकों में मेरे लिए ऐसा कोई काम नहीं है जो मु

करना ही चाहिए, और न कोई ऐसी चीज़ है जो मुझे न मिल सकती हो, तो भी मैं काम करने में लगा रहता हूँ। (जिससे अन्य लोग मेरी देखा-देखी काम में लगे रहें और अज्ञान से कुमार्ग में न जायँ) ॥ २२ ॥ हे पृथापुत्र अर्जुन! यदि मैं आलस्यरहित होकर कामों में न लगा रहूँ तो मनुष्य सर्व प्रकार से मेरे ही मार्ग पर चलेंगे अर्थात् काम छोड़कर बैठ जायँगे ॥२३॥ अगर मैं कर्म न करूँ तो यह तीनों लोक नाश हो जायँगे। मैं वर्णसंकर करनेवाला और इन प्रजाओं को नाश करनेवाला या बिगाड़नेवाला ठहरूँगा ॥ २४ ॥

हे भरत की सन्तान—अर्जुन! जिस भाँति अज्ञानी पुरुष कर्मों में आसक्त होकर यानी कर्मों में मोह रखकर कर्म

करते हैं, उसी भाँति ज्ञानी पुरुष, लोगों की भलाई की इच्छ
से, कर्मों में आसक्त न होकर, कर्म करे ॥ २५ ॥ जि
अज्ञानी पुरुषों का दिल काम में लगा हुआ है, विद्वानों
चाहिए कि वे उनका मन काम से हरगिज़ न हटावें बलि
योगयुक्त होकर स्वयम् भी कर्म करें और उनको भी का
में लगावें। (यदि कर्मों में लगे हुए लोगों का मन का
से हट गया और उन्हें आत्मज्ञान भी प्राप्त न हुआ
वही मसल होगी कि "द्विधा में दोनों गए, माया मिली
राम") ॥ २६ ॥ हे अर्जुन! संसार के सब कार्य प्रकृति के सत
रज और तम इन तीन गुणों द्वारा होते हैं, किन्तु अहंकार
जिसका अन्तःकरण मलीन हो गया है, अथवा जिसकी बुद्धि

भ्रष्ट हो गई है, वह समझता है कि "इन कर्मों का करनेवाला और कोई नहीं बल्कि मैं ही हूँ" ॥ २७ ॥ परन्तु हे अर्जुन! जो मनुष्य सत्त्व, रज आदि तीनों गुण और उनके कर्मों के विभाग के तत्त्व को जानता है वह (ज्ञानी) ऐसा समझता है कि सत्त्व आदि गुण अपने आप कर्म करा रहे हैं, ऐसा समझकर वह उनमें नहीं फँसता ॥ २८ ॥

जो सत्त्व, रज आदि प्रकृति के गुणों में भ्रमे हुए हैं अथवा उनमें भूले हुए हैं, वे मोह के कारण इन गुणों के कार्य में लिप्त हो जाते हैं अर्थात् विषयभोगों में फँस जाते हैं ऐसे मंदमति अज्ञानी पुरुषों को ज्ञानी लोग सकाम कर्म करने से न हटावें (बल्कि स्वयं कर्म करते हुए उन्हें अपने उदाहरण

से कर्म में लगाए रहें) ॥ २९ ॥ हे अर्जुन ! तुझे अब उचि
है कि तू अध्यात्मचित्त से अर्थात् आत्मा में चित्त लगाक
सब कामों को मुझ सच्चिदानन्द भगवान् पर छोड़ दे औ
आशा ममता से रहित होकर, विना शोक-संताप, अथव
झिझक या डर के युद्ध कर ॥ ३० ॥ जो मनुष्य श्रद्धापूर्व
मेरे इस उपदेश के अनुसार चलते हैं और इसमें कि
प्रकार का दोष नहीं निकालते वे चाहे किसी भी जाति
किसी भी आश्रम के हों, कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाते
यानी छुटकारा पा जाते हैं ॥ ३१ ॥ परन्तु हे अर्जुन ! ज
मेरे इस उपदेश की निन्दा करते हैं या कपोलकल्पि
समझकर मेरी शिक्षानुसार नहीं चलते, वे घोर मूर्ख हैं, अ

बुद्धि पुरुष हैं और हिये के अन्धे हैं, उन्हें तू नष्ट हुआ समझ ॥ ३२ ॥ ज्ञानवान् (जिसके वश में इन्द्रियाँ होती हैं और जो इन्द्रियों के वश नहीं कहा जा सकता) भी अपनी प्रकृति-स्वभाव के अनुसार ही कार्य करता है (तब अज्ञानी का तो भला कहना ही क्या है?) जब सब प्राणी (अपने पूर्वजन्म के संस्कार अनुसार) अपनी २ प्रकृति के अनुसार चलते हैं तब ज़बरदस्ती इन्द्रियों के रोकने से क्या फ़ायदा? मतलब यह है कि स्वभाव या प्रकृति के मुक़ाबले में इन्द्रियों को कोई रोक नहीं सकता है ॥३३॥ हरएक इन्द्रिय अपनी अनुकूल वस्तु से प्रेम और प्रतिकूल से वैर करती है। मनुष्य को राग-द्वेष के वशीभूत होना ठीक नहीं है; क्योंकि

राग-द्वेष (किसी चीज़ से प्रेम करना और किसी से घृण करना) ही मोक्ष के रास्ते में विघ्न पैदा करनेवाले हैं ॥३४

अपना धर्म गुणहीन क्यों न हो; किन्तु वह पराये सर्वगुण सम्पन्न धर्म से कहीं अच्छा है। अपने धर्म में मरना भल है; क्योंकि पराया धर्म भयकारक है ॥ ३५ ॥

अर्जुन ने कहा—

हे कृष्ण ! किसकी प्रेरणा से या किसके उकसाने से य मनुष्य पाप करने लगता है ? अर्थात् किस ज़बरदस् कारण से मनुष्य अपने स्वभाव के विरुद्ध चलने को तैया हो जाता है ? ऐसा मालूम होता है कि (मनुष्य की इच्छ

पापकर्मों में न होने पर भी) उससे कोई ज़बरदस्ती पाप कराता है ॥ ३६ ॥

भगवान् कहते हैं:—

हे अर्जुन ! जिसको तुम पूछते हो, वह काम ही क्रोध है, जो रजोगुण से पैदा हुआ है। सब कुछ खा जाने पर भी इसकी तृप्ति कदापि नहीं होती; यह बड़ा पापी है। इस संसार में हमारा सबसे बड़ा शत्रु "काम" ही है ॥ ३७ ॥

जैसे धुएँ से अग्नि ढक जाती है, धूल से दर्पण (मुँह देखने का शीशा) ढका रहता है और झिल्ली से गर्भ ढका रहता है वैसे ही "ज्ञान" भी काम से ढका रहता है ॥ ३८ ॥

इस काम ने मनुष्य के "ज्ञान" पर परदा डाल रक्खा है। यह

ज्ञान का नित्य वैरी है। जैसे काष्ठ व घृतादि से अग्नि कदापि तृप्त नहीं होती, बल्कि उल्टी धधकती है; उसी प्रकार यह कामरूप अग्नि भी विषय-भोग की प्राप्ति से कदापि शान्त नहीं होती; बल्कि उल्टी बढ़ती ही जाती है॥३९॥दसों इन्द्रियाँ,मन और बुद्धि—ये तीनों काम (इच्छा) के रहने के स्थान कहे जाते हैं। इन्हीं तीनों की सहायता से यह "काम" प्राणियों के ज्ञान (बुद्धि) को ढककर उन्हें अनेक प्रकार के मोह, भ्रम या धोखे में डालता है॥ ४०॥

इसलिए हे पृथा-पुत्र (अर्जुन)! तू पहिले इन्द्रियों को रोक और इस ज्ञान-विज्ञान-नाशक पापी "काम" को अवश्य मार डाल॥४१॥इन्द्रियाँ तो प्रबल हैं ही, इन्द्रियों से प्रबल

(ज़ोरावर) मन है, मन से प्रबल बुद्धि है, क्योंकि वह मन के विचार को रोकना चाहे, तो रोक सकती है। आत्मा इन सबसे अलग और श्रेष्ठ है। हे बड़ी भुजावाले अर्जुन ! इस प्रकार आत्मा को बुद्धि से परे जानकर और मन को निश्चल करके आत्मा से आत्मा को रोककर इस दुर्विजय कामरूप शत्रु का नाश कर डाल ॥ ४२-४३ ॥

गीता के तीसरे अध्याय का माहात्म्य



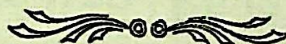
भगवान् विष्णु ने कहा—"हे देवि ! अब गीता के तीसरे अध्याय का माहात्म्य सुनो। कौशिक-वंश में जड़ नाम का एक अधर्मी ब्राह्मण था।

वह अपना धर्म-कर्म छोड़कर बनियों की वृत्ति करता था। वह बड़ा
दुराचारी, व्यसनी, जुआरी और शराबी था। हमेशा शिकार खेला करता
था। जब उसके पास धन न रह गया तब वह चोरी करने लगा। चोरी
से कुछ धन सञ्चय करके व्यापार करने के लिए विदेश को चला गया।
वहाँ व्यापार की बहुत-सी वस्तुएँ खरीदकर जब अपने देश को वापिस
आ रहा था, तब मार्ग में चोरों ने उसका सब माल छीन लिया और उसे
मार डाला। अपने दुष्कर्मों के फल से वह भयानक प्रेत हुआ; वह हमेशा
भूख-प्यास से व्याकुल रहता था। उस कालरूप प्रेत की जाँघें भारी थीं, पेट
पीठ में लगा था, बाल खड़े थे और आँखें विकराल थीं। जब बहुत दिन
बीत गये और वह लौटकर घर न आया तो उसका पुत्र अपने पिता
को ढूँढ़ने के लिए निकला। मार्ग में अपने पिता की मृत्यु का समाचार
सुनकर वह बड़ा दुखी हुआ। उसका पुत्र बड़ा विद्वान् और धर्मात्मा था।

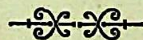
उसने, अपने पिता की परलोक-क्रिया करने की इच्छा से, सब सामग्री लेकर काशी की यात्रा की। मार्ग में चलते-चलते उसी पेड़ के नीचे पहुँचा, जहाँ उसके पिता की मृत्यु हुई थी। सन्ध्या हो गई थी, इसलिए वह उसी पेड़ के नीचे ठहर गया। सन्ध्योपासन करके वह गीता के तीसरे अध्याय का पाठ करने लगा। उसी समय उसने देखा कि अपने तेज से सब दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ एक सुन्दर विमान आकाश से आया और उसका पिता उस विमान पर बैठ गया। वह पीताम्बर ओढ़े है, बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियाँ उसके साथ बैठी हैं और मुनिगण उसकी स्तुति कर रहे हैं। उसने लपककर पिता को प्रणाम किया और उनका हाल पूछा। पिता ने कहा—'बेटा, तुमने गीता के तीसरे अध्याय का पाठ करके हमारे सब पापों का नाश कर दिया है। अब हम वैकुण्ठ धाम को जाते हैं और तुम अपने घर को लौट जाओ। तुम जिस निमित्त काशी को

जाते थे, वह काम पूरा हो गया।' पुत्र ने फिर पूछा—'पिताजी! और कुछ हमारे करने योग्य काम हो वह बताइए।' पिता ने कहा—'हे निष्पा हमारा भाई भी हमारे ही समान पापी है, वह भी नरक में पड़ा है उस भी उद्धार करो। और भी हमारे पूर्वज नरक में पड़े हैं, उनको भी दुःख छुड़ाओ।' पुत्र ने पूछा—'किस कर्म के करने से उनकी मुक्ति हो सकती सो आप बताइए।' पिता ने कहा—बेटा! जिस कर्म से हमको प्रेत-यो से छुड़ाया है, उसी कर्म से अर्थात् गीता के तीसरे अध्याय के पाठ उनका भी उद्धार करो। गीता के तीसरे अध्याय का पाठ करके उस पुण्य उनको दे दो। उसी के प्रभाव से वे नरक से छुटकारा पाकर प पद को जायँगे।' पिता पुत्र को यह आज्ञा देकर विष्णु के श्रेष्ठपद—वैकु लोक—को चला गया। पुत्र अपने पिता की आज्ञानुसार गीता तीसरे अध्याय का पाठ करके नरकगामी पूर्वजों को मुक्त करने लग

इस प्रकार उसके पिता का भाई और अन्य सब पूर्वपुरुष वैकुण्ठ को चले गये। वह पुत्र भी अन्त को अपने पुण्य के प्रभाव से विष्णुलोक को गया।



चौथा अध्याय



भगवान् ने कहा—

इस अविनाशी (सनातन) कर्म-योग को मैंने पहले सूर्य से कहा था; सूर्य भगवान् ने मनु से कहा और मनु ने

अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा ॥ १ ॥ यह कर्म-योग इसी त
परम्परा से चला आया । इसे राजऋषि जानते थे।
शत्रुओं के तपानेवाले अर्जुन! बहुत समय से यह कर्म-यो
संसार से लोप हो गया था ॥ २ ॥ तू मेरा भक्त और मि
है; इसी लिए मैंने तुझसे उस सनातन योग को कहा है। य
योग अति उत्तम रहस्य है ॥ ३ ॥

अर्जुन ने कहा—

हे भगवन् ! आपका जन्म अब हुआ है और सूर्य
जन्म पहले हुआ था। यह मैं कैसे समझूँ कि आप ही ने
को सबसे पहले यह उत्तम योग बतलाया था ? ॥ ४ ॥

भगवान् ने कहा—

हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सब जन्मों की बातें मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता ॥ ५ ॥

यद्यपि मैं जन्म-रहित अविनाशी हूँ और (स्थावर-जंगम) सब प्राणियों का मालिक भी हूँ, परन्तु अपनी ही प्रकृति का आश्रय लेकर, अपनी ही इच्छा से मैं जन्म लेता हूँ ॥ ६ ॥

मेरा वह जन्म कब होता है, उसे भगवान् नीचे कहते हैं:—

हे भारत! जब-जब धर्म की घटती और अधर्म की वृद्धि होती है अर्थात् जिस समय लोग अपना कर्त्तव्य-पालन करना छोड़ बैठते हैं और दिन-रात अनर्थ करने पर

उतारू हो जाते हैं, ठीक उस समय, मैं अपने आपको प्रक
करता हूँ यानी उसी समय मैं अवतार लेता हूँ ॥ ७
धर्मात्माओं की रक्षा करने के लिए, दुष्ट मनुष्यों का नाश
करने के लिए, और धर्म की स्थापना अर्थात् क़ायम रख
के लिए, मैं युग-युग में जन्म लेता हूँ ॥ ८ ॥ हे अर्जुन
जिस मनुष्य को मेरे इस अलौकिक स्वरूप का और ध
क़ायम रखने के लिए मेरे दिव्य (असाधारण) कर्मों क
यथार्थ ज्ञान हो जाता है, वह देह छोड़ने पर फिर जन्म न
लेता; बल्कि मुझमें ही मिल जाता है ॥ ९ ॥ जिनको
किसी में मोह है, न किसी से भय है, जो न किसी पर गुस्स
होते हैं, जो सब प्रकार से मेरे ही ध्यान में मग्न व ली

रहते हैं, जो मेरे ही भरोसे रहते हैं, और जो ज्ञानरूपी तप से शुद्ध हो गए हैं, ऐसे मनुष्य मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् मुझमें ही जा मिलते हैं (जिससे उनको जन्म-मरण के झंझट में फिर पड़ना नहीं पड़ता) ॥ १० ॥

लोग जिस भाव से मुझको भजते हैं, मैं उन्हें वैसा ही फल देता हूँ। हे अर्जुन! मनुष्य किसी भी रास्ते पर क्यों न चले, सब मेरे ही मार्ग हैं ॥ ११ ॥

लोग, इस लोक में, फल पाने की इच्छा से देवताओं की पूजा करते हैं, क्योंकि उन्हें इस मनुष्य-लोक में कर्मों की सिद्धि शीघ्र होती है ॥ १२ ॥

हे अर्जुन! गुण और कर्मों के विभाग के अनुसार मैंने चार

वर्ण*पैदा किए हैं; अगरचे मैं उनका कर्ता—करनेवाला—
हूँ, तो भी मुझे अकर्ता और अविनाशी समझ ॥ १३ ॥
मुझ पर न तो कर्म कुछ असर ही करते हैं, और न मु
कर्मों के फल पाने की इच्छा ही होती है। जो मुझे ऐस
समझता है वह कर्मों के बन्धन में नहीं फँसता यानी उसक
मोक्ष हो जाता है॥ १४ ॥ इस प्रकार जानकर, मोक्ष चाह
वालों ने पहिले भी कर्म किए हैं ॥ हे अर्जुन ! पूर्व पुरुषों क
तरह तू भी (अपने को "कर्ता और भोक्ता" न समझकर
कर्म कर ॥ १५ ॥ "कर्म क्या है" और "अकर्म क्या है" अर्थ
कौनसा काम करना चाहिए और कौनसा नहीं—इस विष

* चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

में बड़े-बड़े पंडितों और ज्ञानियों की भी बुद्धि चकरा गई है। इसलिए मैं तुझे वह कर्म बतलाऊँगा जिसके जानने से तू दुःखों से छूट जायगा अर्थात् जन्म-मरण से छुटकारा पा जायगा ॥ १६ ॥ कर्म का, विकर्म का और अकर्म का तत्त्व जानना बड़ा ज़रूरी है; क्योंकि कर्म-मार्ग बड़ा गंभीर, कठिन वा रहस्य से भरा हुआ है ॥ १७ ॥

मतलब यह है कि शास्त्र में जिन कामों के करने की आज्ञा है, उन्हें 'कर्म' कहते हैं; जिन कामों के करने की शास्त्र में आज्ञा नहीं है, उन्हें 'विकर्म' कहते हैं। तत्त्वज्ञान हो जाने पर इन्द्रियों के सब व्यापारों को बन्द करके चुपचाप बैठ जाने को अथवा शास्त्रोक्त कर्म के छोड़ देने को 'अकर्म' कहते हैं—इन तीन प्रकार के कर्मों का असली मतलब जानना बड़ा मुश्किल है; इसलिए भगवान् तीनों तरह के कर्मों का भेद आगे समझाते हैं:—

जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वह

मनुष्यों में बुद्धिमान् है, और वही युक्त और सारे कर्म क
करनेवाला है ॥ १८ ॥

जो बिना इच्छा और सङ्कल्प के काम करता है, जि
के कर्म ज्ञानरूपी अग्नि से नाश हो गए हैं अर्थात् जो ज्ञा
पहले कहे हुए कर्म और अकर्म के तत्त्व को समझ गया
उसी को बुद्धिमान् लोग पंडित कहते हैं ॥ १६ ॥ जिस
कर्मों के फलों की इच्छा त्याग दी है, जो हमेशा सन्तु
रहता है अर्थात् जिसे इन्द्रियों के विषयों के भोगने
अभिलाषा नहीं है, जो आत्मा के सिवाय और किसी
आश्रय नहीं रहता अर्थात् जिसे अपने आत्मा—अ
स्वरूप—में ही आनन्द मालूम होता है, वह चाहे ऊपर

काम करता हुआ दिखाई देता है; किन्तु वास्तव में वह कुछ भी कर्म नहीं करता है (क्योंकि उपरोक्त विधि से कर्म करना काम न करने के ही समान है अथवा कर्मों में उसकी किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होती) ॥ २० ॥ हे अर्जुन! जो सर्व प्रकार की आशा से रहित है यानी जिसे लोक और परलोक के किसी पदार्थ की इच्छा नहीं है, जिसने अन्तःकरण और शरीर को अपने वश में कर लिया है यानी जिसने अपने मन और इन्द्रियों को अपने अधीन कर लिया है और जिसने विषयभोगों के साधन (धन, मकान, ज़मीन, जायदाद, स्त्री, पुत्र इत्यादि) त्याग दिए हैं, वह मनुष्य शरीर-निर्वाह के लिये कर्म करता हुआ पाप का भागी नहीं

होता ॥ २१ ॥ अपने आप या बिना इच्छा के प्राप्त हुई वस्
पर सन्तोष करनेवाला, सुख-दुःख, गर्मी-सर्दी और मा
अपमान को समान समझनेवाला, किसी से ईर्षा-द्वेष या
हसद न रखनेवाला, लाभ-हानि और जय-पराजय में सम
रहनेवाला पुरुष, काम करता हुआ भी, कर्मबन्धन में न
फँसता॥२२॥जिसका मन लोक और परलोक के पदा
में आसक्त नहीं है, अर्थात् जिसका प्रेम स्त्री, पुत्र, धन-दौल
आदि में नहीं है, जो सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से मुक्त या
आज़ाद है, जिसका चित्त हर समय ब्रह्मज्ञान में ही ल
रहता है, जो ईश्वर को अर्पण करने के लिए अथवा यज्ञ
सिद्धि व रक्षा के लिए कर्म करता है, उसके सारे कर्म

में लीन हो जाते हैं यानी बिल्कुल नाश हो जाते हैं। (ऐसा पुरुष कर्मबन्धन में कभी नहीं फँसता) ॥ २३ ॥ जिसे ब्रह्म-ज्ञान हो गया है, उसकी समझ में स्रुवा (जिससे हवन किया जाता है) ब्रह्म है; घी तिल इत्यादि हवन की सामग्री भी ब्रह्म है; अग्नि—जिसमें घी वग़ैरह हवन के पदार्थ डाले जाते हैं वह—भी ब्रह्म है; हवन करनेवाला भी ब्रह्म है; जिसके लिए हवन किया जाता है, वह भी ब्रह्म ही है; जो मनुष्य हर काम में ब्रह्म को देखता है, वह अवश्य ब्रह्म को प्राप्त होगा ॥ २४ ॥ कई एक कर्म-योगी देवताओं के लिए देवयज्ञ करते हैं और कितने ही ब्रह्माग्नि में आत्मा को आत्मा द्वारा होमते हैं ॥ २५ ॥

कितने ही कान, नाक आदि इन्द्रियों को संयमरू
अग्नि में होम देते हैं अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से हटाक
अपने वश में कर लेते हैं और कितने ही इन्द्रियों के श
आदि विषयों को इन्द्रियरूपी अग्नि में होम देते हैं या
इन्द्रियों को शास्त्रोक्त विषयों में लगाते हैं जिससे विष
तो भोगते हैं परन्तु चित्त पर उन विषयों का ज़रा सा भ
प्रभाव—असर—नहीं पड़ने देते और इन्द्रियों को विषय
के वश में नहीं होने देते ॥ २६ ॥ कितने ही योगी स
इन्द्रियों के कर्मों तथा प्राण-कर्मों को ज्ञान से प्रज्वलि
आत्मसंयमरूपी योग-अग्नि में होमते हैं ॥ २७ ॥

कितने ही धन से यज्ञ करते हैं अर्थात् कितने ही दा

अपने धन से दीन-दुखियों के दुःख को दूर करते हैं; कुछ लोग तप-यज्ञ करते हैं यानी चान्द्रायणव्रत आदि करते हैं; बहुत से प्राणी योग-यज्ञ करते हैं अर्थात् फल की इच्छा त्यागकर अष्टाङ्गयोग*का साधन और प्राणायाम वग़ैरह करते हैं; कितने ही वेदशास्त्रों तथा अन्य धर्मग्रन्थों के पढ़ने से यज्ञ करते हैं; कितने ही पुरुष ज्ञानयज्ञ करते हैं अर्थात् शास्त्रों के अर्थ विचारने में लगे रहते हैं और इस

* अष्टांगयोग—(१) पाँच यम (२) पाँच नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) ध्यान (७) धारणा और (८) समाधि—इन आठ अङ्गों का नाम अष्टाङ्गयोग है।

पाँच यम—(१) अहिंसा (२) सत्य (३) चोरी न करना (४) ब्रह्मचर्य—वेश्यागमन या परस्त्रीगमन न करना और (५) अपरिग्रह—किसी के धन को लेने का लालच न करना।

पाँच नियम—(१) शौच (२) सन्तोष (३) तप (४) स्वाध्याय (वेदों का पाठ करना) (५) ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर-भक्ति)।

प्रकार ज्ञान प्राप्त करते हैं, ये पाँचों प्रकार के यज्ञ करनेवा
बड़े दृढ़व्रती यति हैं ॥ २८ ॥

कितने ही पुरुष प्राणायाम* में तत्पर हुए प्राण औ
अपान अर्थात् श्वास और प्रश्वास की गति (चाल) व
रोककर अपान में प्राण को और प्राण में अपान को होमते
अर्थात् पूरक† रेचक‡ और कुम्भक+प्राणायाम करते हैं

*प्राणायाम—यह योग का एक अङ्ग है। आसन के स्थिर होने पर प्राण और अपान अर्थात् श्व और प्रश्वास की चाल को रोकना ही प्राणायाम का लक्षण वा स्वरूप है। प्राण उस वायु का नाम है फेफड़ों (Lungs) में काम करती है; बाहरी वायु को अन्दर खींचती है, इसे श्वास (inspiratio कहते हैं। अपान उस वायु को कहते हैं, जो शरीर के भीतर से बिला ज़रूरी सड़ी हुई वस्तुओं को ब निकाल देती है, यहाँ उस वायु से मतलब है जो श्वास को बाहर की ओर निकालती है, इसे प्रश् (expiration) कहते हैं। † पूरक—वायु को अन्दर भरना। ‡ रेचक—वायु को खाली करना बाहर निकालना। +कुम्भक—प्राण और अपानवायु को रोकना या श्वास–प्रश्वास की गति को रोक

कुछ लोग अन्दाज़े से थोड़ा भोजन करके प्राणों को प्राणों में होमते हैं। यह सब ही यज्ञ के जाननेवाले हैं। इनके सारे पाप यज्ञ से ही नाश हो जाते हैं॥ ३० ॥

जो यज्ञ से बचे हुए अमृतरूपी भोजन को करते हैं, वे सनातनब्रह्म—मोक्ष—को प्राप्त होते हैं। लेकिन हे कुरुओं में श्रेष्ठ अर्जुन! जो इनमें से कोई भी यज्ञ नहीं करते उनके लिए जब इस लोक में ही सुख नहीं मिलता, तो परलोक में फिर भला कैसे मिल सकता है॥ ३१ ॥

इस तरह के बहुत से यज्ञों का वर्णन वेद में है। उन सब यज्ञों की उत्पत्ति कर्मों से हुई है (क्योंकि आत्मा कर्म-रहित है यानी आत्मा कुछ नहीं करता, अगर तू यह समझेगा

कि "मैं कर्मरहित हूँ, मेरा कर्मों से कुछ सरोकार नहीं
है") ऐसा समझने से तू मुक्त हो जायगा यानी इस श्रे
ज्ञान के बल से तू सब प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाक
संसार-बन्धन से छूट जायगा ॥ ३२ ॥ हे शत्रुतापन अर्जुन
द्रव्य-यज्ञों से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है; क्योंकि ज्ञान का फल मोक्ष है
सब कर्म, फलसहित, इस ज्ञान-अग्नि में ही समाप्त होते हैं ३

हे अर्जुन! जब तू तत्त्वज्ञानी पण्डितों और संन्यासिय
के पास जाकर उन्हें प्रणाम करेगा, उनसे पूछेगा औ
उनकी सेवा करेगा तब वे (प्रसन्न होकर) तुझे आत्मज्ञा
का उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥ जिस (तत्त्वज्ञान) को जानक
हे अर्जुन ! तू इस भाँति मोह को न प्राप्त होगा और उस

ज्ञान के कारण सब प्राणियों को अपने (आत्मस्वरूप) में तथा मुझ (सच्चिदानन्दस्वरूप वासुदेव) में देखेगा (और इस तरह आत्मा और परमात्मा की एकता समझेगा) ॥ ३५ ॥ अगर तू सब पापियों से भी अधिक पापी है, तो भी तू इस ज्ञानरूपी नाव से पापरूप समुद्र के पार हो जायगा ॥ ३६ ॥ हे अर्जुन ! जिस प्रकार जलती हुई अग्नि सूखी लकड़ियों को जलाकर राख कर देती है ; उसी तरह ज्ञानरूपी अग्नि सारे कर्मों को जलाकर भस्म कर देती है ॥ ३७ ॥ इस संसार में ज्ञान के बराबर पवित्र वस्तु और कोई नहीं है। जिसने कर्मयोग द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसे कुछ समय में ही. यह ज्ञान अपने आप आ

जाता है ॥ ३८ ॥ जो पुरुष श्रद्धावान् हो, जो श्रद्धा से युक्त
और जिसने अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया
है, वही इस ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। जिसे ज्ञान
हो जाता है, उसे शीघ्र ही परम शान्ति मिल जाती
है ॥ ३९ ॥ हे अर्जुन! जो पुरुष अज्ञानी यानी मूर्ख है,
जो श्रद्धारहित है अर्थात् जिसे शास्त्र, गुरु व महात्माओं
के उपदेशों पर विश्वास नहीं है और जो संशयात्मा है
यानी जो संशयों में डूबा रहता है, उसे इस लोक में और
परलोक में कहीं भी सुख नहीं मिलता॥४०॥हे अर्जुन!जिसने
योगरीति से कर्मों को त्याग दिया है, जिसके सब संशय
ज्ञान द्वारा कट गए हैं और जो अपने आपको अपने वश में

रखनेवाले हैं, वे किसी प्रकार के कर्म-बन्धन में नहीं फँसते ४१
इसलिए जो सन्देह तेरे दिल में अज्ञान से पैदा हो गया है, उसे आत्मा के ज्ञानरूपी खड्ग (तलवार) से काट डाल। हे अर्जुन! कर्मयोग में लग जा, और उठ, अर्थात् "मैं युद्ध करूँ या न करूँ" इस सन्देह को त्यागकर तू खड़ा हो और युद्ध कर।

गीता के चौथे अध्याय का माहात्म्य



भगवान् ने कहा—हे लक्ष्मी, अब गीता के चौथे अध्याय का माहात्म्य सुनो, जिसके प्रभाव से बेर के दो पेड़ स्वर्ग को गये हैं। काशीपुरी में एक आत्मज्ञानी तपस्वी रहते थे। एक दिन वे गीता का पाठ करते-करते

नगर के बाहर निकल गये। एक स्थान पर बेर के दो पेड़ पास ही पास
लगे थे। तपस्वी ने उन्हीं पेड़ों के नीचे बैठकर गीता के चौथे अध्याय
का पाठ किया और फिर उनको नींद आ गई। वे एक पेड़ की ज
पर सिर और दूसरे पेड़ पर पैर रखकर सो गये। थोड़ी देर सोकर मुनि
जागे और अपने स्थान को चले गये और वे पेड़ सूख कर गिर पड़े। उ
बाद वे दोनों बेर के पेड़ एक ब्राह्मण की कन्या हुईं। कन्याएँ जब स
वर्ष की हुईं तब एक दिन वही मुनि उनको देख पड़े। कन्याओं ने
नम्रता से हाथ जोड़कर मुनि को प्रणाम किया और उनसे कहा—
तपोधन, आपकी कृपा से हम दोनों का दुःख छूट गया। बेर के पे
छूटकर हमको मनुष्य का जन्म मिला है।' कन्याओं की यह बात सु
मुनि को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने चकित होकर पूछा—'मैंने किस म
कैसे, तुमको बेर के पेड़ से मुक्त किया है, सो बताओ'। कन्याओं ने

सब वृत्तान्त—जिस प्रकार मुनि बेर के नीचे गीता के चौथे अध्याय का पाठ करके सो गये थे—बताया। मुनि ने फिर पूछा—'तुम अपने पूर्वजन्मों का भी हाल बताओ और बेर का पेड़ कैसे हुई, सो भी कहो।' कन्याओं ने कहा—'हम दोनों स्वर्गलोक की अप्सराएँ हैं, जिस कारण से हम बेर का पेड़ हुई थीं, वह वृत्तान्त कहती हैं, सुनिए। हे महर्षि! गोदावरी नदी के किनारे छिन्नपाप नाम का एक तीर्थ है। वहाँ सत्यतपा नाम के एक महर्षि कठोर तपस्या करते थे। उनकी तपस्या देखकर देवराज इन्द्र को यह डर हुआ कि यह ऋषि तपोबल से कहीं हमारा राज्य न छीन लें। इसलिए उन्होंने हम दोनों अप्सराओं से कहा कि तुम ऋषि के पास जाकर उनकी तपस्या में विघ्न डालो। हम इन्द्र की आज्ञानुसार महर्षि के पास गईं और मृदंग आदि बाजा बजाकर, मनोहर गीत गाकर, हाव-भाव दिखाकर मुनि को रिझाने लगीं। किन्तु वे महर्षि जितेन्द्रिय थे, हमारे गाने-बजाने

और हाव-भाव दिखाने से उनका मन न डिगा । गाने-बजाने का
सुनकर जब उनका ध्यान छूटा, तब उन्होंने कुपित होकर हम दोनों को
दिया कि तुम बेर का पेड़ हो जाओ । हे महर्षि ! मुनि का शाप सुन
हम लोगों ने हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना की कि महाराज ! हम
पराधीन हैं, आप कृपा करके हमारा अपराध क्षमा कीजिए । तब उन
प्रसन्न होकर कहा कि हमारा शाप मिथ्या नहीं हो सकता । तुम दोनों बे
पेड़ अवश्य हो जाओगी, किन्तु भरत नाम के एक महर्षि उन पेड़ों
नीचे आवेंगे और उनके मुख से गीता के चौथे अध्याय का पाठ सुन
तुम हमारे शाप से छूट जाओगी ।' यह कहकर कन्याओं ने भरत मुनि
पूजा की । उसके बाद मुनि अपने स्थान को चले गये और कन्याएँ
के चौथे अध्याय का पाठ करने लगीं । अन्त में वे दोनों कन्याएँ
लोक को गईं ।

भगवान् विष्णु ने लक्ष्मी से कहा—"सुना, गीता के चौथे अध्याय का माहात्म्य। जिसके केवल एक अध्याय के श्रवण-मात्र से बेर के पेड़ मनुष्य हो गये, उस गीता के सम्पूर्ण पाठ का माहात्म्य कौन कह सकता है?"



पाँचवाँ अध्याय



अर्जुन ने कहा—

हे कृष्ण! (कभी) आप कर्मों के छोड़ने को अच्छा कहते

हैं और (कभी) आप कर्मों में लगने की आज्ञा देते हैं। इस लिए निश्चय करके कहिए कि इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है?॥ १॥

भगवान् ने कहा—

हे अर्जुन! संन्यास (कर्मों को छोड़ना) और कर्म-योग (कामों का करना) दोनों ही मोक्ष के देनेवाले हैं, लेकिन इन दोनों में कर्म-संन्यास से कर्म-योग श्रेष्ठ है॥ २॥

हे अर्जुन! जो कर्म-योगी न किसी से द्वेष करता है और न किसी चीज़ की इच्छा करता है अर्थात् जो किसी से घृणा नहीं करता, किसी से प्रेम नहीं करता और न किसी वस्तु की चाहना रखता है उसी को सच्चा संन्यासी समझना चाहिए। सुख-दुःख, गरमी-सरदी आदि से रहित ऐसा

संन्यासी, सहज ही में कर्म-बन्धनों से छुटकारा पा जाता है॥३॥ सांख्य और योग को बालक ही अलग-अलग कहते हैं न कि पण्डित अर्थात् विचारवान् पुरुषों की राय में सांख्य और कर्म-योग दोनों से एक ही प्रकार का फल मिलता है। जो इन दोनों में से एक का भी अच्छी तरह साधन करता है, उसे दोनों का फल मिल जाता है ॥ ४ ॥ जो स्थान सांख्यवाले प्राप्त करते हैं, वही योगी भी प्राप्त करते हैं। सांख्य और योग को, जो एक समान देखता है, वही (ठीक) देखता है ॥ ५ ॥

हे बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले अर्जुन ! बिना कर्म-योग के संन्यास का मिलना कठिन है अर्थात् जब तक चित्त शुद्ध न

होगा तब तक संन्यास का होना कठिन है। योग-युक्त मुनि को संन्यास के प्राप्त करने में देर नहीं लगती है (इसी से भगवान् ने कर्म-योग को श्रेष्ठ बतलाया है) ॥६॥ जो पुरुष कर्म-योगी है, जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, जिसने अपने आपको जीत लिया है, जिसने अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है, जो सब प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझता है अर्थात् जो सब प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा से अलग नहीं मानता ऐसा मनुष्य कर्म करता हुआ भी कर्म-बन्धन में नहीं फँसता अर्थात् ज्ञानी कर्म-बन्धनों से अलग ही रहता है ॥७॥ तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी पुरुष देखता है, सुनता है, छूता है, सूँघता है, खाता है, चलता

है, सोता है, श्वास लेता है, बोलता है, छोड़ता है, पकड़ता है, आँखों को खोलता तथा मींचता है; मगर वह यही समझता है कि "इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयों में लगी हुई हैं, आत्मा न कुछ करता है और न उससे किसी काम से सरोकार है" ॥ ८-९ ॥ जो पुरुष अपने कर्मों को ईश्वर के अर्पण कर देता है और अपने किये हुए कामों के फल की इच्छा नहीं रखता, वह पापों में इस प्रकार लिप्त नहीं होता है, जैसे कमल के पत्ते पर जल नहीं ठहरता ॥ १० ॥ शरीर से, मन से, बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से कर्मयोगी लोग कर्म-फल की इच्छा त्यागकर, आत्मा अर्थात् अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

जो दृढ़ विचार रखनेवाला पुरुष, कर्म-फल की इच्छा छोड़कर, काम करता है, उसे परम शान्ति मिलती है; मगर जो स्थिर-चित्त नहीं है और अपने कर्मों के फलों की चाहना रखकर, कर्म करता है, वह जन्म-मरण के बन्धन में बँध जाता है (अर्थात् उसे मोक्ष नहीं मिलता, बल्कि आवागमन के चक्र में सदैव फँसा रहता है) ॥ १२ ॥ अपने आपको वश में रखनेवाला देह का स्वामी—जीव—सब कर्मों को (शरीर व इन्द्रियों से नहीं, किन्तु) मन से त्यागकर न तो कुछ स्वयं करता हुआ और न कुछ कराता हुआ, नौ द्वारवाले (दो कान, दो आँखें, दो नाक, एक मुख और मल-मूत्र त्यागने के दो स्थान ऐसे नौ छिद्र) नगर—

शरीर—में आनन्दपूर्वक रहता है ॥१३॥ ईश्वर न तो कर्त्ता पन को, न कर्मों को और न कर्म-फल के सम्बन्ध को उत्पन्न करता है अर्थात् यह जगत् का स्वामी न किसी से कहकर कर्म कराता है, न आप कर्म करता है, न किसी को फल भुगाता है और न आप भोगता है किन्तु प्रकृति या दैवी माया ही कार्य करती और कराती है ॥१४॥ परमेश्वर (अकर्ता होने के कारण) न किसी के पाप को और न किसी के पुण्य को ग्रहण करता है। अज्ञान का पर्दा ज्ञान पर पड़ा हुआ है, इसी से लोग धोखा खाते हैं ॥१५॥ किन्तु जिनका अज्ञान आत्म-ज्ञान से नाश हो गया है, उन महात्मा पुरुषों का वह ज्ञान, उस परब्रह्म—परम तत्त्व (अर्थात् उनके

निज स्वरूप) को इस भाँति प्रकाशित करता है, जिस प्रकार सूर्य अंधकार को नाश कर दीखने योग्य चीज़ों को दिखा देता है ॥ १६ ॥ जिनकी बुद्धि ब्रह्मज्ञान के विचार में ही लगी रहती है, उस परम स्वरूप में ही जिनका अन्तःकरण रमा रहता है, जिनका चित्त अपने परम स्वरूप के निश्चय में दृढ़ स्थित है, जो बात २ में उस परमात्मा का ही आश्रय लेते हैं। "मैं शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ"। इस प्रकार के ज्ञान से जिनके पाप नाश हो गए हैं, ऐसे विद्वान् महात्मा जब शरीर को छोड़ते हैं, तो वे फिर देह धारण नहीं करते बल्कि सीधे मोक्ष को ही प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥ विद्या और विनय से संपन्न ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, तथा कुत्ते और

चाण्डाल में ज्ञानवान् पुरुष (अपने आत्मा की दृष्टि से) एक समान देखते हैं ॥ १८ ॥

जो सबको समदृष्टि—एक नज़र—से देखते हैं, उन्होंने जीतेजी इस मृत्युलोक को जीत लिया है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और समान है अर्थात् जन्म-मरण आदि सब विकारों से रहित तथा सदैव एक समान रहनेवाला है, इसी कारण वे (समदर्शी) ब्रह्म में स्थित हो जाते हैं ॥ १९ ॥ स्थिर बुद्धि-वाला (जिसकी बुद्धि डाँवाडोल नहीं है), अज्ञान से रहित ब्रह्म को जाननेवाला और ब्रह्म में स्थित रहनेवाला प्यारी वस्तु को पाकर प्रसन्न नहीं होता, और अप्रिय (बुरी) वस्तु को पाकर दुःखी नहीं होता ॥ २० ॥ आँख, कान, नाक

आदि बाहरी इन्द्रियों को अपने अधीन करके, उन इन्द्रियों
के शब्द, स्पर्शादि विषयों में जो योगी लोग नहीं फँसते हैं,
वे अपने निर्मल अन्तःकरण में शान्तिरूप सुख का अनुभव
करते हैं। इस प्रकार शान्ति पाकर वह योग द्वारा समाधि
लगाकर जब ब्रह्म के ध्यान में तल्लीन हो जाता है तब उसे
अक्षय—कदापि नाश न होनेवाला—सुख मिलता है, क्योंकि
इन्द्रियों के विषयों से जो मिथ्या सुख होते हैं, वे सब दुःख
पैदा करनेवाले हैं (जैसे विषवृक्ष (जहरीले दरख्त) की
लता देखने में बड़ी सुन्दर, कोमल मालूम होती है, पर
सूँघते ही प्राण हर लेती है, उसी प्रकार ये विषय-भोग बड़े
प्यारे और सुखरूप प्रतीत होते हैं, लेकिन वास्तव में दुःख

रूप ही होते हैं)। हे अर्जुन! ये विषय-सुख आदि अन्तवाले हैं यानी नाशवान् व अनित्य हैं, इसीलिए बुद्धिमान् पुरुष इन विषय-भोगों में सुख नहीं समझते अर्थात् इनमें प्रीति न रखकर त्यागने का उपाय करते रहते हैं ॥ २१-२२ ॥ जो मनुष्य मरते दम तक यानी शरीर छूटने के अन्तिम समय तक काम * और क्रोध के प्रबल वेगों को सह सकता है अर्थात् जो मरण समय तक इनके वेगों को अपने वश में रख सकता है, वही कर्मयोगी और वही सुखी है (अन्य नहीं) ॥ २३ ॥ (इस प्रकार काम, क्रोध के वेग को वश में कर लेने से) जिसका अपने भीतर ही सुख है, जो अपने

* काम का अर्थ इच्छा है।

आत्मा या अन्तःकरण में ही विहार करता या रमण करता
है जो अपने आत्मा में ही प्रकाश देखता है अथवा जिसकी
दृष्टि अपने आत्मा पर ही है, वही योगी ब्रह्म में लवलीन
होकर, ब्रह्मस्वरूप होता हुआ (शरीर छोड़ते ही) मोक्ष
पा जाता है ॥ २४ ॥ जिनके पाप (निष्काम कर्मों द्वारा)
नाश हो गये हैं, जिनके सन्देह (आत्मज्ञान के मनन करने
से) मिट गये हैं, जिन्होंने अपने आपको वश में कर लिया
है, जो सब प्राणियों की भलाई चाहते रहते हैं, ऐसे ऋषि
लोग ब्रह्मनिर्वाण-मोक्ष-पाते हैं ॥ २५ ॥ जो काम और
क्रोध को अपने पास नहीं फटकने देते अथवा जिन्होंने
काम और क्रोध के वेगों को जीत रक्खा है, जिन्होंने अप

चित्त या अन्तःकरण को अपने वश में कर लिया है और जिन्होंने अपने आत्मस्वरूप को पहचान लिया है, ऐसे (यत्नशील और अनुभवी) पुरुषों के लिए जीते जी और शरीर छोड़ने के पीछे सब जगह—हर हालत में—मोक्षरूपी परमानन्द ही परमानन्द है॥ २६॥ आँख, कान आदि इन्द्रियों के शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि बाहरी विषयों को (विवेक और वैराग्य के प्रभाव से) बाहर निकालकर, नेत्रों की दृष्टि को दोनों भौंओं के बीच में ठहराकर, नासिका यानी नाक के भीतर विचरनेवाले प्राण और अपान वायु को सम करके (एक जैसा विचरनेवाला करके) अथवा कुम्भक प्राणायाम करके इन्द्रियं, मन और बुद्धि को वश में करके,

काम, भय, क्रोध से रहित मोक्षपरायण मुनि निश्चय ही मुक्ति पा जाता है ॥ २७, २८ ॥ (इस ध्यानयोग से) सब यज्ञों और तपों के भोगनेवाला, सारे लोकों का परमेश्वर, और सब प्राणियों का सुहृद् (मित्र) मुझे जान जाने से मननशील मुनि को मोक्षरूप शान्ति मिलती है ॥ २९ ॥



गीता के पाँचवें अध्याय का माहात्म्य

विष्णु ने लक्ष्मी से कहा—"हे देवि! अब हम गीता के पाँचवें अध्याय का माहात्म्य कहते हैं, मन लगाकर सुनो। पुरुकुत्स नाम के नगर में कुलीन ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न पिंगल नाम का एक दुराचारी ब्राह्मण था। वह शास्त्र-विहित धर्मों को छोड़कर मृदंग आदि बाजा बजाता, गाता और नाचता था। उसकी स्त्री का नाम अरुणा था, वह भी बड़ी व्यभिचारिणी थी। उसने एक दिन आधी रात को अपने पति को मार डाला। पिंगल अपने पापों के फल से यमलोक में नरकों का क्लेश भोगकर वन में गिद्ध हुआ। अरुणा के भी भगन्दर-रोग हुआ और

वह भी मर गई। वह दुष्टा भी नरक को गई। अन्त को उसे भी उसी वन में—जहाँ उसका पति गिद्ध हुआ था—मुग्गी का जन्म मिला। गिद्ध ने पूर्वजन्म की शत्रुता को याद करके उस मुग्गी को मार डाला। वह मरकर संयोग-वश एक मनुष्य की खोपड़ी में गिरी। उसी समय गिद्ध भी किसी बहेलिया के जाल में फँसकर मर गया, और उसकी भी हड्डियाँ उसी मनुष्य की खोपड़ी में गिरीं। जब उन दोनों को यमराज के दूत यमलोक को ले गये, तब यमराज ने उनसे कहा कि यद्यपि तुम दोनों ने पूर्वजन्म में बड़े पाप किये हैं, किन्तु तुम्हारी हड्डियाँ मनुष्य की खोपड़ी में गिरीं, इसलिए अब तुम श्रेष्ठ लोक को जाओ। जिसकी खोपड़ी में तुम गिरे हो, वह एक ब्रह्मज्ञानी योगी की खोपड़ी है। वह गीता के पाँचवें अध्याय का पाठ करता था, जिसके प्रभाव से ममताहीन, विरक्त और शुद्ध आत्मा होकर ब्रह्मलोक को गया है। उस सिद्ध पुरुष की खोपड़ी

में गिरने से तुम भी पवित्र हो गये। अब अपनी इच्छानुसार अभीष्ट लोकों में जाओ। यमराज के यों कहने पर वे दोनों विमानों पर बैठकर वैकुण्ठलोक को गये।

छठा अध्याय



भगवान् ने कहा

हे अर्जुन ! जो पुरुष, कर्म के स्वर्गादि फलों की इच्छा त्यागकर, करने योग्य कर्मों को करता है, वही वास्तव में संन्यासी और योगी है ; न कि वह कर्महीन पुरुष (जिसने तप-दानादि कर्मों को छोड़ दिया है) और न वह अग्निहीन (जिसने यज्ञ-होमादि कर्म करने त्याग दिए हैं) ॥ १ ॥

हे अर्जुन ! जिसे संन्यास कहते हैं उसे ही तू योग समझ। जिसने संकल्पों को नहीं त्यागा है अथवा जिसने कर्मफलों के सम्बन्ध को नहीं छोड़ा है, वह वास्तव में योगी नहीं है॥ २॥ जो मुनि योग में आरूढ़ होने की इच्छा करता है यानी अपने अन्तःकरण को शुद्ध और दृढ़ बनाना चाहता है, उसे (निष्काम) कर्म करने चाहिएँ। जब वह मुनि योगारूढ़ हो जाय अर्थात् जब कर्म करते-करते उसका चित्त शुद्ध और शान्त हो जाय, तब ध्यानयोग की प्राप्ति के लिए शमरूप संन्यास का साधन करना चाहिए॥ ३॥ जिस समय पुरुष इन्द्रियों के कर्मों और विषयों को सम्पूर्ण रूप से त्याग देता है, और जब एक भी संकल्प किसी

कामना या विषय का मनुष्य के हृदय में नहीं रहता यानी सारे संकल्पों को त्याग देता है, उसी समय वह पुरुष योगारूढ़ कहलाता है ॥ ४ ॥ मनुष्य को उचित है कि आत्मा से आत्मा का उद्धार करे, उसे नीचा न गिरावे; क्योंकि आत्मा ही आत्मा का मित्र और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है ॥ ५ ॥

जिसने अपने आत्मा से आत्मा को जीत लिया है अर्थात् जिसने अपने शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरण को वश में कर लिया है, उस मनुष्य के लिए उसका आत्मा ही मित्र है, लेकिन जिसने अपने आत्मा को अपने वश में नहीं किया है यानी जो जितेन्द्रिय और विवेकी नहीं वह

स्वयम् अपने साथ शत्रु के समान वैर करता है अर्थात् उसका आत्मा ही शत्रु की तरह उसे हानि पहुँचाता है॥ ६॥ जिसने अपने आत्मा को वश में कर लिया है और जो शान्त है, उसका परम आत्मा (परम स्वरूप) सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख तथा मान-अपमान (इज़्ज़त-बेइज़्ज़ती) में समान रहता है॥ ७॥ जिस योगी का आत्मा ज्ञान* और विज्ञान† से सन्तुष्ट (तृप्त) हो गया है, जो योगी कूटस्थ रहता है अर्थात् जिसका मन चलायमान नहीं होता, जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है

* ज्ञान—जो विषय गुरु के उपदेश या शास्त्र से जाना जाय, उसे "ज्ञान" या "परोक्षज्ञान" कहते हैं।

† विज्ञान—जो विषय अनुभव से स्वतः प्राप्त हो, उसे "विज्ञान" या "अपरोक्षज्ञान" कहते हैं।

और जो मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने को एक समान
समझता है, वही पूर्ण सिद्ध योगी कहलाता है ॥ ८ ॥
जो मनुष्य सुहृद् (अपने शुभचिन्तक), मित्र, शत्रु
उदासीन (बेपरवाह), मध्यस्थ (दोनों पक्षों का भला
चाहनेवाला), द्वेषी (दूसरे का भला देखकर कुढ़नेवाला),
बन्धु (रिश्तेदार), साधु (धर्मात्मा) और अधर्मी को एक
समान समझता है या एक निगाह से देखता है, वही योगियों
में श्रेष्ठ योगी है ॥ ९ ॥ योगी को चाहिए कि अकेले, एकान्त
स्थान में रहकर, अपने चित्त और आत्मा (अन्तःकरण)
को अपने वश में करके, सब प्रकार की आशा और इच्छा
को त्यागकर, ममता से रहित होकर यानी किसी भी चीज़

को अपने पास न रखकर, अपने स्वरूप के ध्यान में अपने आपको लगावे अर्थात् इस प्रकार लगातार योगाभ्यास——ध्यानयोग——में लगे ॥ १० ॥ शुद्ध और पवित्र स्थान में (जैसे गंगा का किनारा) जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा हो, किन्तु सामान्य स्थान पर अपना आसन ऐसा जमावे कि ज़रा भी हिलने न पावे, उस आसन पर पहिले कुशा बिछावे, फिर मृग या व्याघ्रचर्म और उसके ऊपर (कोमल) वस्त्र बिछावे। वहाँ बैठकर, चित्त और इन्द्रियों के कामों को वश में करके, अन्तःकरण की शुद्धि के लिए मन और चित्त को (अपने स्वरूप के ध्यान में) एकाग्र करके योग का अभ्यास करे ॥ ११-१२ ॥ शरीर, सिर

और गर्दन इन तीनों को स्थिर—अचल—करके (दण्ड के समान) सीधा रक्खे, अपने नाक की नोक पर दृष्टि टिकावे अर्थात् अपनी नाक के अगले भाग पर नज़र रक्खे और इधर-उधर किसी तरफ़ न देखे। तत्पश्चात् चित्त को शान्त करके, निडर होकर, ब्रह्मचर्य्यंव्रत में स्थित होकर, मन को रोककर यानी मन को विषयभोगों से हटाकर मुझ परमानन्दस्वरूप परमेश्वर में ध्यान लगाकर आसन पर बैठे ॥ १३-१४ ॥ इस प्रकार जो योगी, जिसने अपना मन अपने वश में कर रक्खा है, ऊपर कही हुई रीति से योगाभ्यास करता है, वह मुझमें रहनेवाली परम निर्वाणरूप शान्ति को प्राप्त होता है अर्थात् वह योगी अन्त में मुझमें

ही लीन होकर कैवल्यपद—मोक्ष—को पाता है॥ १५॥ हे अर्जुन! जो अति अधिक खाता है और जो बिल्कुल नहीं खाता, जो आवश्यकता से अधिक सोता रहता है या जो अधिक जागता रहता है, उसे योग सिद्ध नहीं होता॥१६॥ जो नियमपूर्वक अपना आहार-विहार* करता है, जो नियम अनुसार अपने कार्य करता है, जो नियम अनुसार ही सोता या जागता है उसका योग उसके दुःखों का नाश कर देता है अर्थात् वही पुरुष सर्व दुःखनाशक योग को पाता है क्योंकि योगाभ्यास से अविद्या का नाश होता है, ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती है और ब्रह्मविद्या से

* आहार-विहार—खाना-पीना, चलना-फिरना।

सारे दुःख नाश हो जाते हैं ॥ १७ ॥ जिस समय मनुष्य भले प्रकार से वश में किए हुए अपने चित्त को अथवा अन्तःकरण को आत्मा में—अपने परम शुद्ध स्वरूप में—लगा लेता है और लोक तथा परलोक की सारी इच्छाओं को त्याग देता है, तब वह सिद्ध योगी कहलाता है ॥ १८ ॥ जैसे पवन से रहित स्थान में रक्खा हुआ दीपक न इधर-उधर हिलता है और न बुझने ही पाता है, ठीक वैसी ही दशा या अवस्था उस योगी की कही जाती है जो एकाग्रचित्त से अपने स्वरूप के ध्यान में लीन हो रहा हो और जिसने अपने चित्त को अपने वश में कर रक्खा हो ॥ १९ ॥ जिस समय योगाभ्यास से निरुद्ध—रुके

हुआ—चित्त सांसारिक विषयों से विरक्त होकर शान्त हो जाता है, उस समय अपने आत्मिक बल से अपने शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप को देखता हुआ वह अपने आप ही में सन्तुष्ट हो जाता है ॥ २० ॥ जब बुद्धिमान् पुरुष उस सुख को जान जाता है जिससे बढ़कर और कोई सुख नहीं है, जो नेत्रादि इन्द्रियों के विषयों से परे है और जो केवल आत्मबुद्धि द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, तब वह अपने आत्मा में ही स्थिर हो जाता है और वहाँ से कभी नहीं डोलता है ॥ २१ ॥ उस आत्म-सुख को पाकर वह योगी उससे अधिक किसी लाभ को नहीं समझता (बल्कि इसको पाकर अपने आपको कृतकृत्य समझता है) और

जिस अवस्था में स्थित होने से वह बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता यानी उस योगी के चित्त में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता ॥ २२ ॥ जिस अवस्था में किसी प्रकार का दुःख नहीं रहता उसी अवस्था का नाम "योग" है। उस योग का अभ्यास पक्के निश्चय तथा उद्वेग रहित होकर अवश्य करना चाहिए ॥ २३ ॥ संकल्पों से उत्पन्न हुई या होनेवाली तमाम कामनाओं यानी इच्छाओं को त्यागकर, फिर मन से चक्षु आदि इन्द्रियों को सब ओर से रोककर, धैर्ययुक्त बुद्धि से, धीरे-धीरे सब तरफ़ से मन हटाकर, मन को आत्मा में स्थित करे अर्थात् चित्त को शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप के ध्यान में लगावे। इस प्रकार

मन को आत्मा में लगाकर, किसी प्रकार के विषय की चिन्ता न करनी चाहिए ॥ २४-२५ ॥ जब यह चंचल मन बाहर विषयों की ओर भागे तब जहाँ-जहाँ यह जाय वहाँ वहाँ से रोककर इसे आत्मा के अधीन करना चाहिए (अर्थात् मन को विषयों से हटाकर निरन्तर आत्मा में लगावे) ॥२६॥ जिसका मन शान्त हो गया है, जिसका रजोगुण नष्ट हो गया है, जो समझता है कि "यह सर्व-जगत् ब्रह्मरूप है" और जो निष्पाप हो गया है ऐसे योगी को निस्सन्देह उत्तम सुख प्राप्त होता है ॥ २७ ॥ इस प्रकार जो योगी लगातार अपने मन को आत्मा में लगाता है, उसके सब प्रकार के पाप नाश हो जाते हैं और वह अना-

यास (आसानी से) ही ब्रह्म में मिलने का अनन्त सुख
आनन्द से भोगता है ॥ २८ ॥ जिसका अन्तःकरण या मन
अपने परम स्वरूप के ध्यान में पक्का हो गया है और जो
सबको एक नज़र से देखता है वह सब प्राणियों में अपने
आत्मा को और अपने आत्मा को सब प्राणियों में देखता
है (अर्थात् उसके लिए अपना पराया कोई नहीं है यानी
उसके लिए सब ही ब्रह्म है) ॥ २९ ॥ जो मनुष्य मुझ
'वासुदेव' को सब प्राणियों में देखता है और सब जीवों को
मुझमें देखता है, उस आत्मा की एकता समझनेवाले
के पास से न मैं कभी दूर होता हूँ और न वह मुझसे कभी
दूर होता है अर्थात् मैं सदा उसके पास रहता हूँ और वह

सदा मेरे पास रहता है ॥ ३० ॥ जो यह समझता है कि "प्राणिमात्र में एक ही आत्मा है" और सब जीवों में रहनेवाले मुझ (ईश्वर) को भजता है, वह चाहे किसी भी अवस्था में क्यों न रहे, सदा मुझ (परमानन्दस्वरूप) में ही निवास करता है ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन ! जिसकी समझ में सब आत्माएँ एक हैं, जो पराये सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख के समान समझता है, वह निस्सन्देह परम योगी है ॥३२॥

अर्जुन ने कहा—

हे मधु दैत्य के मारनेवाले भगवान् कृष्ण ! आपने सबको एक समान समझने का जो योग बतलाया है वह मन की चंचलता के कारण सदैव मन में स्थिर नहीं रह

सकता। हे कृष्ण! मन निस्संदेह चंचल, बखेड़िया, बलवा
और हठी यानी जिद्दी है। मेरा ख़्याल है कि मन क
रोकना ठीक उसी तरह कठिन है; जिस भाँति वायु यान
हवा का रोकना॥ ३३-३४॥

भगवान् ने कहा—

हे अर्जुन! इसमें सन्देह नहीं कि मन बड़ा चंचल
अर्थात् बहुत देर तक आत्म-ध्यान में नहीं टिक सकता औ
इसका रोकना बड़ा कठिन है, परन्तु अभ्यास और वैराग
द्वारा मन की गति रोकी जा सकती है अर्थात् इन दो उपाय
से मन वश में हो सकता है जिस पुरुष ने अपने मन क

अपने वश में नहीं किया, उसे योग * प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, किन्तु जो अपने मन या अन्तःकरण को अपने वश में करके, योग प्राप्त करने का उपाय करता रहता है, वह सहज में योग प्राप्त कर लेता है ॥ ३५-३६ ॥

अर्जुन ने कहा—

हे कृष्ण! समाधियोग में जिसकी श्रद्धा—विश्वास—तो हो, पर उसके प्राप्त करने में यत्न न करता हो; अगर ऐसे पुरुष का मन योग-मार्ग से हट जाय, तो योग का फल (जीव ब्रह्म की एकता का ज्ञान) पाये बिना उसकी क्या गति होगी? ॥ ३७ ॥ हे विशालबाहु, भगवान् कृष्ण! जिस तरह

* जीव और ब्रह्म की एकता को 'योग' कहते हैं।

छिन्न-भिन्न यानी फटा हुआ बादल का टुकड़ा आश्रय-रहित होने के कारण नाश हो जाता है; इसी तरह कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग दोनों से भ्रष्ट हुआ पुरुष (उक्त बादल के समान) ब्रह्ममार्ग से विचलित—निराश्रय—होने के कारण नाश तो नहीं हो जाता? ॥३८॥ हे कृष्ण! आप मेरे इस सन्देह को दूर कीजिए; क्योंकि आपके सिवा मुझे और कोई दिखाई नहीं देता जो मेरे इस सन्देह को मिटा सके ॥ ३९ ॥

भगवान् ने कहा—

हे पृथापुत्र अर्जुन! न तो इस लोक में और न परलोक में, उसका नाश होता है (अर्थात् देह छोड़ने पर, योगं

भ्रष्ट पुरुष को इस वर्तमान जन्म से बुरा जन्म नहीं मिलता) हे प्यारे! अच्छा काम करनेवाला कोई भी क्यों न हो उसकी बुरी गति नहीं होती ॥ ४० ॥ पुण्यकर्म करनेवाले पुरुष जिन उत्तम लोकों में, मरने के बाद, पहुँचते हैं, यह योग-भ्रष्ट पुरुष भी वहाँ अनगिनती—अनेक—वर्षों तक निवास करता है; वहाँ पूर्ण सुख भोगकर फिर इस मृत्युलोक में किसी पवित्र और धनवान् पुरुष के घर में वह जन्म लेता है ॥ ४१ ॥ अथवा वह बुद्धिमान् योगियों के कुल में ही जन्म लेता है। ऐसा जन्म इस संसार में कठिनता से मिलता है अर्थात् ऐसा जन्म निस्सन्देह किसी भाग्यवान् पुरुष को प्राप्त होता है ॥ ४२ ॥ वहाँ (इस नये

जन्म में) पहिले जन्म की अभ्यास की हुई ब्रह्मविद्या का संयोग * हो जाता है। हे अर्जुन ! तब वह पहिले जन्म की अपेक्षा † योगसिद्धि के लिए अधिक उत्साह के साथ कोशिश करता है ॥ ४३ ॥ पूर्वले याने पहिले जन्म के योगाभ्यास के बल से विवश ‡ होकर, वह योग-भ्रष्ट पुरुष योगप्राप्ति की ओर झुक जाता है (अर्थात् विषयवासनाओं को छोड़कर योगमार्ग में काम करने लगता है)। योगरीति जानने की इच्छा रखने के कारण वह शब्दब्रह्म से ऊपर पहुँच जाता है अर्थात् वेद में कहे हुए कर्मकाण्डों से छुटकारा पा जाता है ॥४४॥ इस प्रकार जो योगी

* संयोग=मिलाप। † अपेक्षा=बनिस्बत। ‡ विवश=मजबूर।

अधिक परिश्रम के साथ उस योगसिद्धि के लिए यत्न करता है, उसके सब पाप दूर हो जाते हैं और अनेक जन्मों में पुण्यकर्मों द्वारा योगसिद्धि प्राप्त करके, परमगति को प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥ योगी तपस्वियों से, ज्ञानियों से और अग्निहोत्र आदि कर्म करनेवालों से श्रेष्ठ माना गया है; इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी हो ॥ ४६ ॥

जो एकमात्र मुझ (सच्चिदानन्द) में पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ हृदय से मेरा ही ध्यान करता है, उसे मैं सब योगियों से उत्तम समझता हूँ ॥ ४७ ॥

गीता के छठे अध्याय का माहात्म्य



भगवान् विष्णु ने लक्ष्मी से कहा—हे देवि! गीता के छठे अध्याय का माहात्म्य सुनो। गोदावरी नदी के किनारे प्रतिष्ठानपुर नाम का एक नगर है। वहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, चारों पदार्थों का मर्मज्ञ ज्ञानश्रुति नाम का राजा राज्य करता था। वह धर्मात्मा राजा पुत्र के समान प्रजा का पालन, अश्वमेध आदि यज्ञों का अनुष्ठान, साधु महात्माओं का पूजन और ब्राह्मणों को भोजन कराता था। वह अपने धर्म-कृत्यों से संसार भर में प्रसिद्ध था। एक दिन हंसों का झुंड आकाश में उड़ता हुआ उस नगर के ऊपर से निकला। पीछे उड़नेवाले हंसों ने आगे के हंसों से कहा—'देखो, यह राजा ज्ञानश्रुति की राजधानी

है। यह धर्मात्मा महातेजस्वी राजा अपने पुण्य-प्रताप से सम्पूर्ण जगत् में विख्यात है।' आगेवाले हंसों ने हँसकर उत्तर दिया, 'तुमको मालूम नहीं, ब्रह्मवादी रैक्य का तेज इस राजा से भी बढ़कर है।' हंसों की ये बातें महाराज ज्ञानश्रुति सुन रहे थे। महात्मा रैक्य का प्रभाव सुनकर उनके दर्शन की इच्छा से राजा ज्ञानश्रुति उनको ढूँढ़ने के लिए निकले। महर्षि रैक्य का पता राजा को मालूम न था, इसलिए वे काशी, गया, उज्जैन आदि नगरों में गंगा, गोदावरी आदि पवित्र नदियों के तटों पर, मुख्य-मुख्य तीर्थों में, गोवर्धन, विन्ध्याचल और हिमालय आदि पुण्यभूमि में ढूँढ़ते-ढूँढ़ते काश्मीर देश में माणिक्येश्वर नामक महादेव के स्थान पर रैक्य मुनि को देखा, बड़ी श्रद्धा और भक्ति से उनको प्रणाम करके राजा ने पूछा—'महाराज, आपका अद्भुत प्रभाव सुनकर, मैं अनेक देशों में आपको ढूँढ़ता हुआ यहाँ आया हूँ।

कृपा करके मुझे बताइए कि किस धर्म से आपको यह महिमा प्राप्त हुई है।' महर्षि रैक्य ने उत्तर दिया—'राजन्! मैं प्रतिदिन गीता के छठे अध्याय का पाठ करता हूँ, उसी के प्रभाव से मेरा तेज देवताओं को भी दुस्सह हो गया है।'

महात्मा रैक्य के मुँह से गीता का यह माहात्म्य सुनकर राजा जानश्रुति भी गीता के छठे अध्याय का पाठ करने लगे और उसी के प्रभाव से इस असार-संसार को त्यागकर वैकुण्ठधाम को गये।

सातवाँ अध्याय



भगवान् ने कहा—

हे पृथापुत्र अर्जुन! मुझमें अपना चित्त लगाकर, मेरी शरण में आकर, योगाभ्यास करते हुए, बिना किसी सन्देह के, पूर्णरूप से जिस तरह तू मुझे जानेगा सो सुन ॥ १ ॥ मैं इस ईश्वरीय ज्ञान को अनुभव और युक्तियों से तुझे बतलाऊँगा, जिसको जानकर, फिर यहाँ और कुछ जानने

को बाक़ी नहीं रहता ॥ २ ॥ हज़ारों मनुष्यों में से कोई एक इस सिद्धि—ईश्वरीय ज्ञान—के प्राप्त करने के लिए कोशिश करता है। फिर इस सिद्धि के प्राप्त करनेवाले (हज़ारों) सिद्ध पुरुषों में भी कोई बिरला ही ऐसा होता है जो मेरे वास्तव स्वरूप को यथार्थ याना ठीक-ठीक जानता हो ॥ ३ ॥ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—ये मेरी अलग-अलग आठ प्रकार की प्रकृतियाँ हैं, यह अपरा प्रकृति है। अब इससे अलग, हे अर्जुन! मेरी जीवस्वरूप परा प्रकृति है, जिसने इस जगत् को धारण कर रक्खा है ॥ ४, ५ ॥

भावार्थ—जड़ और चेतन अथवा "अपरा" और "परा" इन दो प्रकृतियों से जगत्

की रचना हुई है। "परा" प्रकृति मेरी खास आत्मा है। संक्षेप में मतलब यह है कि इस जड़-जगत् में प्राणिमात्र के शरीर में मैं—सच्चिदानन्द भगवान्—ही जीवरूप से घुसा हुआ हूँ। इस प्रकार मेरी एक ही शक्ति प्रकृति, जड़ और चेतन भेद से दो प्रकार की कहलाती है।

हे अर्जुन! सारे प्राणी इन दोनों प्रकृतियों से पैदा हुए हैं ऐसा तू जान; इसलिए मैं ही इस सारे जगत् की उत्पत्ति और लय का स्थान हूँ यानी मैं ही सारे जगत् का पैदा करनेवाला और मैं ही नाश करनेवाला हूँ॥ ६॥ हे अर्जुन! मुझ परमात्मा से अधिक श्रेष्ठ इस संसार में कोई भी पदार्थ नहीं है। जिस तरह धागे में मणियों के दाने पिरोये रहते हैं, उसी तरह यह जगत् अथवा सारे प्राणी मुझमें गुँथे हुए हैं॥ ७॥ हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! जलों में साररूप रस मैं हूँ, सूरज और चन्द्रमा में प्रभा यानी तेज या प्रकाश

मैं हूँ; सब वेदों में ओंकार-रूप प्रणव मैं हूँ, आकाश
का सार "शब्द" है, वह शब्द मैं हूँ और पुरुषों
पुरुषत्व यानी उद्यम या पराक्रम मैं हूँ (मतलब यह है कि
ये सब मेरे शरीर हैं और मैं ही इनमें रहनेवाला शरीरी
हूँ। दूसरे शब्दों में सबके प्राण, सबका सार वास्तव में
ही हूँ, मेरे बिना इनमें कुछ नहीं है) ॥ ८ ॥ पृथ्वी
पवित्र गन्ध मैं हूँ; अग्नि में जो तेज है वह सारभूत ते
मैं हूँ, सब प्राणियों में—जीव-जन्तुओं में—जीवनशक्ति
मैं हूँ, ऐसे ही तपस्वियों में तप मैं हूँ ॥ ९ ॥ हे पृथापुत्र
अर्जुन! सब प्राणियों का सनातन बीज यानी पैदायश
का कारण तू मुझे समझ, बुद्धिमानों में जो बुद्धि है व

उनकी सारभूत बुद्धि मैं हूँ। (ऐसे ही) तेजस्वियों में तेज मैं हूँ ॥ १० ॥ हे भरतों में श्रेष्ठ अर्जुन ! बलवानों में जो बल काम-राग * उत्पन्न नहीं करता वह सात्त्विक बल मैं हूँ। और प्राणियों में जो अपने धर्म के अनुसार कार्य या कर्त्तव्य कर्म करने की इच्छा है, वह सात्त्विक कर्म मैं हूँ ॥ ११ ॥ शम, दम आदि सतोगुण, राग, द्वेष व हर्ष आदि रजोगुण और शोक, मोह आदि तमोगुण—इन तीन भावों को हे अर्जुन ! तू मुझ परमेश्वर ही से पैदा हुए जान, तो भी मैं उनमें नहीं हूँ बल्कि वे मुझमें हैं (यानी मैं संसारी जीवों की तरह इनके अधीन नहीं हूँ, परन्तु वे मेरे आश्रय

* काम-राग—अप्राप्त वस्तु की चाहना और प्राप्त वस्तु में प्रीति।

हैं) ॥१२॥ सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणमय भावं
से मोहा हुआ जगत् मुझे इन भावों से अलग और निर्वि
कार—अविनाशी—नहीं जानता है ॥ १३ ॥

सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों से युक्त मेरी दिव्
माया को जीतना बड़ा कठिन है, किन्तु जो सब धर्म
को त्यागकर मुझ शुद्ध सच्चिदानन्द को भजते हैं य
जो मेरी शरण में आते हैं, वे सब जीवों को मोहित करने
वाली इस माया को जीतकर पार हो जाते हैं अर्था
जन्म-मरणस्वरूप संसारसमुद्र से तर जाते हैं॥ १४
हे अर्जुन! जो पापी यानी खोटे कर्म करनेवाले हैं, जो मू
अर्थात् विचारहीन हैं, जो नीच अर्थात् कमीने हैं, जिन

ज्ञान को माया ने हर लिया है यानी जो ज्ञानहीन हैं, जिनका स्वभाव राक्षसों (शैतानों) का-सा हो गया है, ऐसे मनुष्य मुझको नहीं भजते ॥ १५ ॥ हे भरतों में श्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यात्मा पुरुष मुझको भजते हैं:—(१) दुःखी—जिन पर किसी प्रकार का संकट होता है। (२) जिज्ञासु या मुमुक्षु—जिनको आत्मज्ञान की चाहना होती है। (३) अर्थार्थी—जिनको स्त्री-पुत्र, धन, दौलत, राज्य या लोक-परलोक के सुखों की इच्छा होती है। (४) ज्ञानी, जो बिना किसी प्रकार की इच्छा के मुझ शुद्ध सच्चिदानन्द, निर्विकार का ध्यान करते हैं ॥ १६ ॥ इन चारों में से ज्ञानी, जिसका चित्त दृढता से मेरे स्वरूप में लगा रहता

है, और जो मेरा अनन्य भक्त है, सबसे उत्तम है; क्योंकि
मैं ज्ञानी के लिए बहुत प्यारा हूँ और ज्ञानी मेरे लिए
अर्थात् मुझमें और उसमें कुछ फ़र्क नहीं है ॥ १७॥
हे अर्जुन! ये सब ही (उपासक या भक्त) मुझे प्रिय हैं
किन्तु ज्ञानी मेरी समझ में मेरा आत्मा ही है; क्योंकि
उसका चित्त सदैव मुझमें ही लगा रहता है और वह मुझे
ही सर्वोत्तम गति समझता है ॥ १८ ॥ बहुत से जन्मों के
अन्त में ज्ञान प्राप्त करता हुआ जो ज्ञानी प्राणिमात्र
को वासुदेव समझता हुआ मेरे पास आता है, वह महात्मा
है। ऐसा महात्मा बड़ी कठिनता से मिलता है ॥ १९ ॥
जिनकी विवेक बुद्धि भिन्न-भिन्न कामनाओं—इच्छाओं—

के कारण बहक जाती है, वे अपनी प्रकृति के वशीभूत होकर, दूसरे देवताओं की उपासना करने लगते हैं और जिस-जिस देवता के आराधन से जो जो कामना पूर्ण होती है, उस-उस देवता का पूजन नियम या विधि से वे करने लगते हैं ॥ २० ॥ जो भक्त जिस रूप या देवता की श्रद्धा-पूर्वक या विश्वास सहित उपासना करता है, उस भक्त के विश्वास को मैं (अन्तर्यामीरूप से उसके भीतर बैठा हुआ) उसी देवता में दृढ़—पक्का—कर देता हूँ ॥ २१ ॥ तब वह मनुष्य उसी देवता में दृढ़ विश्वास रखकर, उसी को भजता है और उसी से अपने अभीष्ट—मनचाहे—फल पा लेता है, जिनको वास्तव में मैं ही देता हूँ ॥ २२ ॥

इन मन्द बुद्धि पुरुषों को—थोड़ी अक़्लवालों को—जो फल (इस प्रकार की उपासना से) मिलता है, वह नाशवान् है यानी वह सदा स्थिर नहीं रहता अर्थात् झटपट नाश हो जाता है। जो लोग देवताओं की उपासना करते हैं, वे देवताओं के पास जाते हैं और जो मुझ सच्चिदानन्द के उपासक—भक्त—हैं, वे मुझमें आ मिलते हैं (यानी उन्हें अनन्त और अमर फल मिलता है) ॥२३॥ किन्तु मूर्ख लोग मेरे अविनाशी (नाश न होनेवाला) निर्विकार सबसे उत्तम भाव को ठीक-ठीक न समझने के कारण मुझ निराकार को मूर्त्तिमान् समझते हैं ॥ २४ ॥ मैं अपनी योग-माया से ढके जाने के कारण सबको दिखाई नहीं देता हूँ। मूर्ख लोग

मुझे जन्म-रहित—अजन्मा—और नाश-रहित नहीं जानते, बल्कि नाशमान या जन्म-मरण को प्राप्त होने-वाला समझते हैं ॥ २५ ॥

हे अर्जुन! मैं पिछले यानी बीते हुए, वर्त्तमान और आगे होनेवाले सब पदार्थ वा प्राणियों को जानता हूँ, लेकिन (मेरा असल स्वरूप न जानने के कारण) मुझे कोई नहीं जानता ॥२६॥ हे अर्जुन! इस संसार में जन्म लेते ही, सारे प्राणी राग-द्वेष से उत्पन्न हुए द्वन्द्वों के फेर में पड़कर मोह को प्राप्त होते हैं (अर्थात् अपने असल स्वरूप को भूल जाते हैं, और मुझ परमेश्वर को अपना आत्मा नहीं समझते) ॥ २७ ॥ किन्तु जिन पुण्यात्माओं के पाप दूर

हो गए हैं, जो राग-द्वेष से उत्पन्न हुए सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से छुटकारा पा गए हैं वे दृढ़व्रती होकर मेरा भजन करते हैं ॥ २८ ॥ जो मेरी भक्ति में एकाग्रचित्त होकर, बुढ़ापे और मौत से छुटकारा पाने की कोशिश करते हैं, वे उस परब्रह्म को भली भाँति जान जाते हैं। अध्यात्म यानी भीतर में रहनेवाले आत्मा की असलियत को समझ जाते हैं और कर्मों के विषय में भी पूरी तौर से जान जाते हैं ॥ २९ ॥ जो मुझे अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित जानते हैं, ऐसे दृढ़ चित्तवाले पुरुष मरण समय में भी मुझे याद करते हैं ॥ ३० ॥



गीता के सातवें अध्याय का माहात्म्य

भगवान् विष्णु ने लक्ष्मी से कहा—"हे देवि, अब सातवें अध्याय का माहात्म्य कहता हूँ, सुनो। पाटलिपुत्र नगर में शंकुकर्ण नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसने कभी देवताओं का पूजन और पितरों का तर्पण नहीं किया। वह दयावान् था और हमेशा वैश्यों की वृत्ति से धन सञ्चय करने में लगा रहता था। एक दिन वह किसी व्यवसाय के लिये बाहर गया था, मार्ग में रात हो जाने पर किसी पेड़ के नीचे सो गया। साँप के डस लेने से उसकी वहीं मृत्यु हो गई। जीवन भर धन के लोभ में लगे रहने से मरने पर भी उसकी धन-लिप्सा न छूटी, और इसीलिए वह साँप होकर एक पेड़ के नीचे—जहाँ उसने बहुत-सा धन गाड़ दिया

था—रहने लगा। कुछ दिनों बाद साँप के जन्म से पीड़ित होकर उसने अपने पुत्रों को स्वप्न दिखाया—'मुझे साँप की योनि में जन्म मिला है और अमुक स्थान पर, जहाँ मेरा धन गड़ा है, रहता हूँ। मैं इस जन्म से बहुत दुखित हूँ। तुम लोग मेरे उद्धार का कोई उपाय करो।' उस ब्राह्मण के तीन पुत्र थे। बड़ा पुत्र तो पिता के उद्धार का उपाय सोचने लगा और छोटा पिता के दुःख का स्मरण करके सोच से व्याकुल होकर रोने लगा; किन्तु मँझले पुत्र को पिता की दुर्दशा का कुछ भी सोच न हुआ, बल्कि उसे यह फ़िक्र हुई कि वहाँ चलकर साँप को मारकर अकेला ही सब धन हथिया ले। उसने अपनी स्त्री को भी साथ लिया और उस पेड़ के नीचे जाकर साँप की बाँबी खोदने लगा। वह कुदाल से खोदता था और उसकी स्त्री मिट्टी निकालती थी। थोड़ी ही देर बाद उस बाँबी से एक विषधर साँप निकला। वही उसका पिता था। वह फूफकारकर बोला—

'रे मूर्ख, तू कौन है? और क्यों यह बाँबी खोदता है?' पुत्र ने उत्तर दिया—'मैं आपका मँझला पुत्र हूँ। मैंने आज रात में स्वप्न देखा है कि यहाँ बहुतसा धन गड़ा है, उसी के लिये यह बिल खोद रहा हूँ।' पुत्र का यह निंद्य स्वभाव देखकर पिता ने हँसकर कहा—'यदि तू मेरा पुत्र है, तो मुझे इस साँप-रूप से उद्धार कर।' पुत्र ने पूछा—'किस उपाय से आपकी मुक्ति हो सकती है, वह मुझे बताइए।' पिता ने कहा—'दान, यज्ञ अथवा तीर्थ-यात्रा आदि करने से मेरी मुक्ति न होगी। मेरे श्राद्ध के दिन गीता के सातवें अध्याय का पाठ कराओ और श्रद्धा से ब्राह्मणों को भोजन कराओ। बस, इसी से मेरा उद्धार हो सकेगा। जब मैं इस साँप की देह से छूटकर मुक्त हो जाऊँ, तब यह धन तुम तीनों भाई आपस में बाँट लो।'

भगवान् विष्णु ने लक्ष्मीजी से कहा—"पिता की यह बात सुनकर

पुत्र अपनी स्त्री समेत घर को लौट आया और अपने पिता के श्राद्ध के दिन गीता के सातवें अध्याय का पाठ करने लगा। उसी के प्रभाव से उसका पिता साँप की देह छोड़कर वैकुण्ठधाम को गया।"



आठवाँ अध्याय



अर्जुन ने कहा:—

हे पुरुषों में उत्तम, श्रीकृष्ण ! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत क्या है? अधि-दैव किसे कहते हैं? हे मधुसूदन, यहाँ, इस शरीर में अधियज्ञ कैसे और कौन हैं? और मरने के समय अपने आपको वश में किए हुए सज्जन तुझे कैसे जान सकते हैं? ॥ १,२ ॥

भगवान् ने कहाः—

परम अक्षर ब्रह्म है। स्वभाव—अपना स्वरूप यानी जीव—अध्यात्म कहलाता है। सारे प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले उस त्यागरूप यज्ञ को कर्म कहते हैं ॥ ३ ॥

हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! नाश होनेवाले पदार्थों को "अधिभूत" कहते हैं। पुरुष को "अधिदैव" कहते हैं और इस देह में "अधियज्ञ" मैं ही हूँ ॥ ४ ॥

मरने के समय, जो पुरुष मुझको याद करता हुआ यह शरीर छोड़ता है, वह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है (यानी वह मेरे पास पहुँच जाता है और मुझ

पा लेता है) ॥५॥ हे अर्जुन ! अन्त समय में प्राणी जिसको याद करता हुआ शरीर छोड़ता है, उसी भाव (पदार्थ-वस्तु या देवता) का सदैव ध्यान रहने से वह उसी को पाता है।

इसलिए तू, हरदम—हर समय—मुझ सच्चिदानन्दस्वरूप का ध्यान करते हुए युद्ध कर। मुझमें मन और बुद्धि लगाने से (शरीर छोड़ने पर) तू मुझे अवश्य प्राप्त होगा ॥६-७॥ इस प्रकार जो अभ्यासयोग से युक्त है, अर्थात् जो मनुष्य हर समय भगवान् का ध्यान करता रहता है और हरएक कार्य में उसी का स्मरण करता है, जिसका चित्त अन्य किसी ओर नहीं जाता, ऐसा मनुष्य ध्यान करने से, परम दिव्य पुरुष मुझ परमेश्वर को पा लेता है ॥८॥ वह परम

दिव्य पुरुष कैसा है ? सुनोः—हे अर्जुन ! वह त्रिकालदर्शी यानी सर्वज्ञ है, पुराना अर्थात् अनादि है, सब पर शासन करनेवाला है, अणुमात्र से भी अत्यन्त सूक्ष्म है यानी छोटे ज़र्रे से भी छोटा है, सबका पालन-पोषण करनेवाला है, अचिन्त्य स्वरूप यानी निराकार है, सूर्य के समान प्रकाशमान है और वह अन्धकार से परे यानी ज्ञानी है। जो पुरुष अन्तकाल में अनन्य भक्ति और योग से युक्त होकर, चित्त को एक जगह स्थिर करके दोनों भौंओं के बीच में प्राणों को भली भाँति ठहराकर, ऐसे उपमावाले दिव्य पुरुष का स्मरण करता है, वह मनुष्य उसी दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है यानी उसी परम दिव्य-स्वरूप

परमात्मा में जा मिलता है ॥ ९, १० ॥ वेद के जाननेवाले जिसे अक्षर—अविनाशी—कहते हैं, राग-द्वेषरहित संन्यासी जिसमें प्रवेश करते हैं यानी सच्चा ज्ञान होने पर उसे पाते हैं, जिसे जानने के लिए लोग ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हैं, उस 'पद' को मैं तुमसे संक्षेप में कहूँगा ॥ ११ ॥ जो सब इन्द्रियों के द्वारों को बन्द कर, मन को हृदय में रोककर, मस्तक में अपने प्राणों को ले जाकर और वहाँ उसे ठहराकर, योगधारणा में स्थिर होकर, "ॐ" इस एक अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और मुझे स्मरण करता हुआ इस देह को त्यागता है, वह परम गति को प्राप्त होता है ॥ १२, १३ ॥

जो मेरा अनन्य भक्त है, जो लगातार नित्य मेरी ही याद

करता रहता है, ऐसा एकाग्र-चित्तवाला योगी मुझे सहज ही में पा लेता है ॥ १४ ॥ मुझे पाकर अर्थात् मेरे परमस्वरूप में मिल जाने पर जो भक्तजन परम गति को प्राप्त हो गए हैं, वे उस पुनर्जन्म (बारम्बार जन्म) को नहीं पाते, जो दुःखों की खानि और अनित्य है ॥ १५ ॥ ब्रह्मलोक तक जितने भी लोक हैं, उन सब लोकों में जाकर प्राणियों को पृथ्वी पर फिर आना पड़ता है (अर्थात् उन लोकों में चले जाने पर भी जीवों को पुण्य के समाप्त होने पर, फिर लौटना पड़ता है और लौट कर यहाँ इस कर्मभूमि में फिर जन्म लेना पड़ता है), लेकिन हे अर्जुन! मेरे पास पहुँचकर उन्हें जन्म लेना नहीं पड़ता ॥ १६ ॥ केवल वे ही लोग दिन और रात को जाननेवाले

हैं, जो यह जानते हैं कि ब्रह्मा का एक दिन एक हज़ार युगों का होता है और रात भी एक हज़ार युगों की होती है ॥१७॥ ब्रह्मा का दिन आरम्भ होते ही (अर्थात् ब्रह्मा के जागने पर) सब यानी स्थावर-जङ्गम जगत अव्यक्त या अमूर्त्त (ब्रह्माजी की निद्रा अवस्था) से प्रकट होता है और ब्रह्मा-जी की रात्रि आने पर यानी ब्रह्माजी के सोने पर वह सब जगत (मूर्तिमान् पदार्थ) उसी अव्यक्त में लीन हो जाता है (इस प्रकार ब्रह्माजी के जागने पर सृष्टि की उत्पत्ति और उनके सोने पर सृष्टि का लय होता है) ॥ १८ ॥ वही प्राणियों का समूह दिन में बार-बार जन्म लेता है, रात्रि में लीन हो जाता है और अविद्या के कारण अपनी इच्छा

न होते हुए भी कर्मों के बश होकर दिन होने पर फिर पैदा होता है (अर्थात् जब तक महाप्रलय नहीं होती, तब तक यही सिलसिला जारी रहता है) ॥१९॥ परन्तु इस अव्यक्त से परे एक और सनातन अव्यक्त है। वह सब प्राणियों के नाश होने पर भी नष्ट नहीं होता ॥ २० ॥

जो अव्यक्त अक्षर (अविनाशी) कहलाता है, उसी को परम गति कहते हैं। उसको पा लेने पर फिर किसी को संसार में लौटकर आना नहीं पड़ता, वही मेरा (यानी विष्णु का) परम धाम है ॥२१॥ हे अर्जुन! वह परम पुरुष, जिसके भीतर सब प्राणी वास करते हैं और जिससे यह सब जगत् व्याप्त है, वह केवल अनन्य भक्ति से प्राप्त होता

(अर्थात् मैं ही "ब्रह्मरूप हूँ" इस तरह का तत्त्व-ज्ञान होने से वह परमात्मा मिलता है) ॥ २२ ॥ हे भरतों में श्रेष्ठ अर्जुन! अब तुझे मैं उस काल के बारे में कहता हूँ, जिस काल में योगी लोग शरीर त्यागकर फिर नहीं आते और जिस काल में आते हैं ॥ २३ ॥ हे अर्जुन! सगुण ब्रह्म के उपासक या ब्रह्म को जाननेवाले योगी पुरुष, अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीनों के अभिमानी देवताओं के पास क्रम से पहुँचते हुए ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। (अर्थात् उन्हें फिर जन्म नहीं लेना पड़ता) ॥ २४ ॥ धूम (धुआँ), रात, कृष्णपक्ष (अँधेरा पखवाड़ा) और दक्षिणायन के छः महीनों में जानेवाले, चन्द्रलोक में पहुँचकर, फिर

संसार में आते हैं ॥ २५ ॥ ये शुक्ल-मार्ग और कृष्ण-मा
दोनों सनातन हैं अर्थात् अनादि काल से चले आते है
जो शुक्ल-मार्ग से जाते हैं, वे फिर लौटकर नहीं आते; कि
जो कृष्ण-मार्ग से जाते हैं, वे फिर लौटकर आते हैं ॥ २६
हे पृथापुत्र ! जो योगी इन दोनों मार्गों को भली भाँ
जानता है; वह धोखा नहीं खाता; इसलिए हे अर्जुन !
सदा योग से युक्त हो अर्थात् तू भी नित्य अनन्य भ
बन ॥ २७ ॥ वेदों के पढ़ने से, यज्ञ करने से, तप करने औ
दान देने से जो फल मिलता है, योगी उसे जान लेने
उन सबसे आगे चला जाता है और उस स्थान को प्रा
होता है, जो सबसे ऊँचा और आदि है ॥ २८ ॥

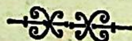
गीता के आठवें अध्याय का माहात्म्य

महादेवजी ने पार्वतीजी से कहा—हे कल्याणी, गीता के सात अध्यायों का माहात्म्य सुनकर लक्ष्मीजी ने फिर उत्सुक होकर पूछा—'भगवन्, अब आप गीता के आठवें अध्याय का माहात्म्य भी कहिए।' तब भगवान् विष्णु कहने लगे—'दक्षिण देश में आमर्दकपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर है। वहाँ भावशर्मा नाम का एक अधम ब्राह्मण रहता था। वह मांस खाता, मदिरा पीता, चोरी करता और सदा बुरे कर्म करता था। एक दिन वह अपने मित्रों के साथ ताड़ी पीते-पीते उसके नशे में बेहोश होकर मर गया। मरने पर वह उसी स्थान में ताड़ी का पेड़ हुआ। जब पेड़ बड़ा हुआ तब एक ब्रह्मराक्षस अपनी स्त्रीसमेत आकर

उस पेड़ पर रहने लगा। एक दिन ब्रह्मराक्षस की स्त्री ने अपने पति से पूछा—भला, इस दुःख से हम लोगों के छुटकारा पाने का कोई उपाय हो सकता है? ब्रह्मराक्षस ने कहा—ब्रह्मविद्या का उपदेश, अध्यात्म विचार और कर्मविधि का ज्ञान हुए बिना हम इस संकट से नहीं छूट सकते। स्त्री ने पूछा—ब्रह्मविद्या, अध्यात्म और कर्मविधि क्या वस्तु है और वह कैसे प्राप्त हो सकती है? ब्राह्मण ने उत्तर दिया—हमने पूर्व जन्म में सुना था कि गीता का पाठ करने अथवा सुनने से सब प्राणी मुक्त हो जाते हैं; किन्तु मैंने सदा मदिरा आदि पीने में आसक्त रहने के कारण उसकी कभी परवा नहीं की थी। एक दिन गीता का आधा श्लोक एक ब्रह्मवादी के मुँह से सुना भी था, पर मदिरा के नशे में मैंने उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया। वह आधा श्लोक मुझे अब भी याद है। ब्रह्मराक्षस ने यह कहकर वह आधा श्लोक पढ़ा। उसे सुनते ही वह पेड़, जो पूर्वजन्म

में भावशर्मा था, सूखकर गिर पड़ा और एक ब्राह्मण के घर में उत्पन्न हुआ। ब्रह्मराक्षस भी अपनी स्त्री-समेत उसी आधे श्लोक के पाठ के प्रभाव से उस अधम शरीर से मुक्त होकर वैकुण्ठलोक को गया। भावशर्मा ब्राह्मण के घर में जन्म पाकर उसी आधे श्लोक का पाठ करने लगा और अन्त में शरीर त्यागकर अक्षयलोक को गया। भगवान् विष्णु ने कहा—हे लक्ष्मी! वह आधा श्लोक गीता के आठवें अध्याय का है, जिसके प्रभाव से ब्रह्मराक्षस, उसकी स्त्री और भावशर्मा मुक्त हुए।

नवाँ अध्याय



भगवान् ने कहा:—

हे अर्जुन! तू गुणों में दोष ढूँढ़नेवाला नहीं है, इसलिए अब मैं तुझे वह परम गोपनीय तत्त्वज्ञान विज्ञान (अनुभव) सहित बतलाता हूँ; जिसके जानने से तू अशुभ कर्मों—बुरे कामों या पापों—से छुटकारा पा जायगा ॥१॥ हे अर्जुन! जो ज्ञान मैं तुझे बतलाता हूँ, वह सब विद्याओं में श्रेष्ठ है, वह अत्यन्त

गुप्त और परम पवित्र है, वह सहज ही में समझ में आ जाता है, धर्म के विरुद्ध नहीं है अर्थात् अपने धर्म के अनुसार है। उसका प्राप्त करना कठिन नहीं; किन्तु बहुत सहज है (अर्थात् बिना किसी कष्ट के सहज ही में इससे सिद्धि (परम गति) प्राप्त होती है) और वह अविनाशी यानी नाशरहित है ॥ २ ॥ हे शत्रुओं के तपानेवाले अर्जुन! जो लोग इस धर्म में श्रद्धा या विश्वास नहीं रखते, वे मुझको प्राप्त नहीं होते, बल्कि (ऐसे अश्रद्धालु पुरुष मरकर) मरण-शील संसार-मार्ग में ही भटकते रहते हैं ॥ ३ ॥ यह सब जगत् मेरी अव्यक्त मूर्ति से व्याप्त है। सब जीव मुझमें बसते हैं और मैं उनमें नहीं बसता ॥ ४ ॥ वास्तव में वे सब

प्राणी मुझमें स्थित नहीं हैं। तू मेरे इस योग-ऐश्वर्य को देख यानी मेरे अद्भुत प्रभाव व प्रताप को देख कि मेरा आत्मा यद्यपि सब जीवों का पालन करनेवाला व जीवन-दाता है तथापि मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ॥ ५ ॥ जिस प्रकार हर जगह घूमनेवाला महान् वायु आकाश में सदैव रहता है, उसी प्रकार सब प्राणी मुझमें रहते हैं; अपने चित्त में ऐसा समझ ॥ ६ ॥ हे अर्जुन! प्रलय के समय, सब प्राणी मेरी प्रकृति या माया में लीन हो जाते हैं और कल्प के आदि में अर्थात् सृष्टिकाल में मैं उनको (अलग-अलग सूरतों में) उत्पन्न करता हूँ ॥ ७ ॥ अपने कर्मों से बँधे हुए अथवा प्रकृति के वशीभूत प्राणिसमूह को अपनी माया

द्वारा मैं बारम्बार पैदा करता हूँ ॥ ८ ॥ हे अर्जुन ! ये कर्म मुझे नहीं बाँधते, क्योंकि मैं उन कर्मों से उदासीन और निरासक्त—बेलाग—रहता हूँ ॥ ९ ॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! मैं अध्यक्ष हूँ । यह प्रकृति अर्थात् मेरी माया सारे सचराचर जगत् को उत्पन्न करती है और इसी माया के कारण से यह जगत् बारम्बार उत्पन्न होता और लय होता है ॥ १० ॥ मैं वास्तव में सब भूतों (प्राणियों) का महान् ईश्वर हूँ । मेरे इस परमस्वरूप को न जानने के कारण और मेरे मनुष्य-शरीर में रहने के कारण, मूर्ख लोग मेरा अनादर करते हैं ॥ ११ ॥ ये मूर्ख लोग मेरा अनादर क्यों करते हैं ? इसका कारण यह है कि

वे झूठी आशाओंवाले होते हैं (अर्थात् वे ईश्वर को छोड़कर अन्य देवताओं वा लोकों की प्राप्ति की तुच्छ आशाएँ रखते हैं), मिथ्या कर्मोंवाले और मिथ्या ज्ञानवाले होते हैं (अर्थात् उनके कर्म इसलिए निष्फल हैं कि वे लोग मुझ परमात्मा को छोड़कर अन्य देवताओं की उपासना करते हैं अथवा स्वर्ग-सुख भोगने के लिए अग्निहोत्र आदि कर्म करते हैं और उनका ज्ञान इसलिए व्यर्थ है कि वे लोग मुझ को छोड़कर अन्य पदार्थों को सच्चा समझते हैं)। अनित्य संसारी कुकर्मों में उनका चित्त डूबा रहता है और वे लोग (मेरे स्वरूप के अज्ञान के कारण) मेरी मोहनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति के अधीन हो जाते हैं (अर्थात् पर-

द्रव्य और परस्त्री हरने में तथा मारने और लूट-खसोट करने में लगे रहते हैं)॥ १२ ॥ हे अर्जुन! दैवी प्रकृति का आश्रय रखनेवाले महात्मा पुरुष अर्थात् देवताओं के स्वभाववाले महात्मा मुझे सब भूतों—प्राणियों—का आदि कारण और अविनाशी स्वरूप जानकर, सब ओर से चित्त हटाकर एकमात्र मुझ अन्तरात्मा में मन लगाकर, मेरी ही उपासना करते हैं ॥ १३ ॥ वे महात्माजन हमेशा (स्तोत्रादि द्वारा) मेरी महिमा के विषय में चर्चा किया करते हैं, दृढ व्रतों द्वारा (अर्थात् अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्यादि व्रतों को रखकर) मुझे पाने का उपाय करते रहते हैं। बड़े प्रेम से मुझे नमस्कार करते हैं और भक्तिपूर्वक, सदैव मुझमें ही ध्यान

लगाकर, निरन्तर मुझे ही भजते हैं ॥ १४ ॥ कितने ही महात्मा ज्ञान-यज्ञ द्वारा मेरी उपासना करते हैं ; कितने ही एकत्वरूप से, कितने ही पृथक्रूप से और कितने ही नाना रूपों से मुझ विराट् स्वरूप परमेश्वर की पूजा करते हैं ॥ १५ ॥

मैं ही क्रतु * अर्थात् श्रौतकर्म हूँ। मैं ही यज्ञ अर्थात् बलिवैश्वदेवादिक स्मार्त्त-कर्म जो महायज्ञ भी कहलाते हैं, वह मैं हूँ। स्वधा अर्थात् मंत्रों द्वारा पितरों को जो अन्न दिया जाता है, वह मैं हूँ। मैं ही औषध हूँ यानी जो,

* क्रतु—अग्निष्टोमादि श्रौतकर्म को क्रतु कहते हैं अर्थात् जिस वैदिक कर्म में बहुत से खम्भे गाड़े जाते हैं और बीच में चौकोर कुण्ड बनाकर हवन किया जाता है, उसे क्रतुकर्म कहते हैं।

चावल आदि व सोमवल्ली आदि बूटियाँ, जो यज्ञ-अग्नि में डाली जाती हैं, वह मैं हूँ। मैं ही मन्त्र हूँ। अर्थात् 'स्वाहा' 'स्वधा' ये शब्द जो वैदिक मंत्र कहलाते हैं, वह मैं हूँ। मैं ही घी हूँ, मैं ही अग्नि हूँ अर्थात् जिस अग्नि में हवन किया जाता है, वह यज्ञ-अग्नि मैं हूँ; और मैं ही हवन कर्म हूँ अर्थात् अग्नि में छोड़ी हुई आहुति भी मैं ही हूँ॥ १६॥

इस संसार का पिता-माता यानी उत्पन्न करनेवाला मैं हूँ। इस जगत् का विधाता अर्थात् पालन-पोषण करनेवाला मैं ही हूँ; इस ब्रह्माण्ड का पितामह अर्थात् पुरुषोत्तम भगवान् मैं ही हूँ। जानने योग्य तथा पवित्र करनेवाला जो प्रणव अक्षर 'ओंकार' है, वह मैं हूँ। इसी प्रकार ऋग्वेद, सामवेद,

यजुर्वेद और अथर्ववेद भी मैं ही हूँ ॥ १७ ॥ इस संसार की गति (यानी कर्म का फल) मैं हूँ; सबका भरण-पोषण करनेवाला मैं हूँ; सबका स्वामी मैं हूँ; सब भले-बुरे कामों का देखनेवाला मैं हूँ; सबका निवासस्थान (सब प्राणियों के रहने की जगह) मैं हूँ; शरणागत पुरुषों के दुःखों का हरनेवाला मैं हूँ; सुहृद् (अर्थात् बिना प्रयोजन या मतलब के उपकार करनेवाला) मैं हूँ; सबके पैदा होने की जगह मैं हूँ; प्रलय और स्थान (अर्थात् जहाँ यह जगत लय हो जाता है और जिसके द्वारा यह फिर स्थित होता है) मैं हूँ; सारे जगत् का निधान यानी जमा-पूँजी मैं हूँ; और अविनाशी बीज यानी कदापि नष्ट न होनेवाला तथा

सबकी उत्पत्ति का कारण भी मैं हूँ ॥ १८ ॥ हे अर्जुन! मैं ही सबको तपाता हूँ, मैं ही वर्षा को थामता हूँ और मैं ही उसे बरसाता हूँ, मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ अर्थात् सब प्राणियों का जीवन व उनका विनाश मैं ही हूँ और ऐसे ही सत् अर्थात् अविनाशी या व्यक्त और असत् अर्थात् विनाशी या अव्यक्त, ये सबके सब मैं ही हूँ ॥ १९ ॥ ऋक्, यजुः, साम इन तीनों वेदों के जाननेवाले, यज्ञ से बचे हुए सोमवल्ली के रस को पीनेवाले, पापों से शुद्ध हुए लोग, यज्ञों द्वारा मेरी उपासना (पूजा) करते हुए, स्वर्गलोक में जाने की अभिलाषा करते हैं और इस प्रार्थना से वे अपने पुण्यों के फलस्वरूप इन्द्र-लोक को पाते हैं और वहाँ देवताओं के भोगने योग्य स्वर्गीय

भोगों को भोगते हैं॥२०॥वे उस विशाल—विस्तारवाले—स्वर्गलोक को भोगकर पुण्यकर्मों के क्षीण अर्थात् खतम हो जाने पर फिर इस मनुष्यलोक में जन्म लेते हैं। इस प्रकार तीनों वेदों के अनुसार यज्ञ आदि कर्मों के करनेवाले और स्वर्गीय भोगों के भोगने की इच्छा रखनेवाले (अपने पुण्यकर्मों के फलों को भोग लेने बाद) कभी स्वर्ग में जाते हैं और कभी मृत्युलोक में आते हैं यानी इस आवागमन—आने-जाने—के चक्र से छूटने नहीं पाते॥ २१ ॥ जो लोग किसी दूसरी ओर चित्त न देकर केवल एकमात्र मेरा ही ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य योगियों को मैं इस लोक के सब पदार्थ देकर उनकी रक्षा करता हूँ

(अर्थात् उनके शरीर की रक्षा के लिए अन्न, वस्त्र आदि जिस किसी पदार्थ की भी उन्हें ज़रूरत होती है, वह सब मैं पूरी कर देता हूँ) और उनकी रक्षा (योग-क्षेम की चिन्ता) का भार मैं खुद अपने सिर पर ले लेता हूँ ॥ २२ ॥ जो इन्द्रादि देवताओं की श्रद्धा या भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं; वे भी हे अर्जुन ! टेढ़ी रीति से मुझे ही पूजते हैं (अर्थात् मैं 'वासुदेव' इन सब देवताओं का आत्मा हूँ और ये देवता वास्तव में मेरे भिन्न-भिन्न रूप हैं) क्योंकि मैं ही सब यज्ञों का भोगनेवाला तथा उनका स्वामी हूँ। वे अज्ञानी मेरे इस तत्त्व को अर्थात् मेरे यथार्थ रूप को नहीं जानते इसीलिए वे परमगति को प्राप्त नहीं होते (बल्कि बार-बार इस संसार

में जन्म लेते और मरते हैं) ॥ २३, २४ ॥ इन्द्र आदि देवताओं के पूजनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, श्राद्ध आदि के कर्मों द्वारा पितरों को पूजनेवाले पितरों को प्राप्त होते हैं; भूत प्रेत आदि को पूजनेवाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मुझ सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा की उपासना करने-वाले मुझको प्राप्त होते हैं अर्थात् जैसी जिसकी भावना होती है वैसा ही उसको फल मिलता है ॥ २५ ॥ जो कोई भक्तिपूर्वक मुझ परमात्मा को पत्र, फल, फूल और जल अर्पण करता है, उस शुद्ध चित्तवाले पुरुष की भक्ति से भेंट की हुई वस्तुओं को मैं (आनन्दपूर्वक) स्वीकार करता हूँ ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! जो कुछ तू करता है, जो कुछ तू खाता है, जो कुछ तू होम करता है, जो कुछ तू दान देता है और तप करता है, वह सब तू मेरे अर्पण कर ॥२७॥ ऐसा करने से तू शुभ-अशुभ—भले-बुरे—फल देनेवाले कर्मबन्धनों से छूट जायगा। इस प्रकार संन्यास-योग (भगवान् में सब कर्मों तथा उनके फलों का अर्पण) से युक्त हुए चित्तवाला और कर्मबन्धनों से छुटकारा पाकर (शरीर छोड़ने पर) सीधा मुझ सच्चिदानन्द को ही प्राप्त होगा अर्थात् मुझमें ही लीन हो जायगा ॥ २८ ॥ सब प्राणियों के लिए मैं एक-सा हूँ, न मेरा कोई शत्रु है और न मित्र। जो भक्तिपूर्वक मुझे भजते हैं, वे मुझमें बसते हैं और मैं उनमें बसता हूँ ॥ २९ ॥

हे अर्जुन! (और तो क्या) यदि कोई दुराचारी भी मेरा अनन्य भक्त होकर सच्चे मन से मेरा भजन करने लगे तो वह (सच्चा) साधु मानने योग्य हो जाता है, क्योंकि उसका निश्चय ठीक है ॥ ३० ॥ वह (दुराचारी भी मेरी भक्ति से) शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और मोक्ष पा जाता है। हे अर्जुन! तू विश्वास रख कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन! मेरी शरण में आने से (मेरी भक्ति के प्रभाव से) पापी, स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र सभी परम गति—मोक्ष—को प्राप्त होते हैं; तो फिर पवित्र पुण्यात्मा ब्राह्मणों, भक्तों और राज-ऋषियों का तो कहना ही क्या है! हे अर्जुन! इस अनित्य सुखरहित लोक यानी मनुष्य-देह

को पाकर तू मेरा भजन कर ॥ ३२,३३॥ हे अर्जुन ! तू मुझ परमात्मा में अपना मन लगा, पूर्णरूप से मेरा अनन्य भक्त हो, सदा मेरी ही पूजा कर (शरीर, मन और वाणी से) मुझे नमस्कार कर, (तन-मन-धन से) मुझमें ही तत्पर रह। इस प्रकार करने से अवश्य ही मेरे स्वरूप को प्राप्त होगा ॥ ३४ ॥

गीता के नवें अध्याय का माहात्म्य

भगवान् शंकर ने पार्वती से कहा—हे देवि ! उसके बाद विष्णु भगवान् गीता के नवें अध्याय का माहात्म्य कहने लगे। नर्मदा नदी के किनारे माहिष्मती नाम की एक नगरी है, वहाँ माधव नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह बड़ा विद्वान्, अतिथियों का सत्कार करनेवाला और वेद वेदाङ्ग का मर्मज्ञ था। उसने शास्त्रविहित कर्मों से कुछ धन संचित करके एक यज्ञ का अनुष्ठान आरंभ किया। बलिदान के लिए एक बकरा ले आया था। बकरे की यथोचित पूजा करके बलिदान करना ही चाहता था, उसी समय बकरा हँसकर बोला—'इन यज्ञों के करने से क्या लाभ है ? यह केवल नश्वर फल देनेवाले तथा जन्म-मरण औ

बुढ़ापे के दुःख के कारण हैं। हे ब्राह्मण ! हमारी इस दशा को देखो, हम यज्ञ करने से ही अनेक अधम योनियों में भ्रमते हुए अनेक प्रकार के कष्ट भोग रहे हैं।' बकरे की यह बात सुनकर ब्राह्मण को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह हाथ जोड़कर बोला--'तुम कौन हो, और तुमको बकरे का जन्म कैसे मिला ? अपना सब वृत्तान्त कहो।' बकरे ने कहा--'हम पहले एक कुलीन ब्राह्मण थे। वेद-वेदाङ्ग का अध्ययन और सब प्रकार के यज्ञ करने में निपुण थे। एक बार हमारी स्त्री नें अपने पुत्र की बीमारी में देवी की भेंट करने के लिए एक बकरा मँगाया। जब देवी के मंदिर में बकरे का बलिदान होने लगा, तब उसकी माँ ने क्रुद्ध होकर हमको शाप दिया—'रे पापी, अधम ब्राह्मण, तू शास्त्र की बातें नहीं समझता। तू निर्दयता से हमारे पुत्र का गला काट रहा है, इसलिए तू भी बकरा होगा।' हे ब्राह्मण ! उसी शाप के कारण हम अनेक

योनियों में भ्रमण करते हुए अब बकरा हुए हैं। जिस कर्म के फल से हम यह दुःख भोग रहे हैं, वही कर्म आज तुमको करते देखकर हमको हँसी आई। तुम ब्राह्मण के वंश में उत्पन्न हुए हो, ऐसा कर्म करो, जिससे इस असार संसार से मुक्त होकर श्रेष्ठ लोक को जाओ।' ब्राह्मण ने बड़े आश्चर्य से पूछा, संसार से मुक्ति देनेवाला और कोई कर्म मुझे नहीं मालूम है। यदि तुम जानते हो तो बताओ। बकरे ने कहा—'हम एक उपाय बतलाते हैं, सुनो। हमको इस जन्म के पहले बन्दर का जन्म मिला था। एक बार सूर्यग्रहण के दिन हम नर्मदा नदी के किनारे एक पेड़ पर बैठे थे। एक राजा नर्मदा में स्नान करके एक ब्राह्मण को सूर्यग्रहण का दान कर रहा था। अन्य ब्राह्मणों ने उस दान लेनेवाले ब्राह्मण से कहा—'तुम सूर्यग्रहण का दान लेकर अपने तईं नरक का द्वार क्यों खोल रहे हो?' उस ब्राह्मण ने उत्तर दिया—'हम इस प्रकार के कितने ही दान ले

चुके हैं और हमेशा लेते रहेंगे। हम ऐसा उपाय जानते हैं कि इन कुदानों का पाप हमको नहीं लगता।' ब्राह्मणों ने बड़े आदर से पूछा—'भाई, वह उपाय हमको भी बताओ।' ब्राह्मण ने कहा—'हम प्रतिदिन गीता के नवें अध्याय का पाठ करते हैं। गीता के नवें अध्याय का पाठ करके अनेक अधम महापापी इस संसार से मुक्त हो गये हैं। इसी से हमको इस दान लेने का भय नहीं है।' बकरे ने कहा—'हे ब्राह्मण! यदि तुम गीता के नवें अध्याय का पाठ हमको भी सुनाओ, तो हम और तुम दोनों इस संसार के बंधन से छूट जायँ।' ब्राह्मण उसी दिन से गीता के नवें अध्याय का पाठ करने लगा। बकरा भी सुनता था। उसी के प्रभाव से वे दोनों शरीर त्यागकर वैकुंठधाम को गये।



दसवाँ अध्याय



भगवान् ने कहा:—

हे अर्जुन! मेरे परम वचन—उपदेश—को तू फिर सुन। तू मुझे प्यारा है, इसलिए तेरी भलाई के लिए मैं यह कहता हूँ॥१॥ मेरे प्रभाव या उत्पत्ति को न देवता ही जानते हैं और न महर्षि लोग, क्योंकि मैं सब देवताओं और महर्षियों का

आदि कारण हूँ ॥ २ ॥ जो मुझे अजन्मा—जन्मरहित—अनादि और सब लोकों का स्वामी जानता है, वह मनुष्यों में मोह से रहित हो जाता है और सब प्रकार के पापों से छुटकारा पा जाता है ॥ ३ ॥

हे अर्जुन! बुद्धि, ज्ञान, अव्याकुलता, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुख, उत्पत्ति, नाश, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश, अपयश, प्राणियों के ये सब नाना प्रकार के भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ ४, ५ ॥ सात महाऋषि (भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, और वशिष्ठ) और पहले के चार मनु ये सब मेरे मन से उत्पन्न हुए हैं और इन्हीं से इस जगत् की सारी प्रजा

पैदा हुई है (अर्थात् यह समस्त सृष्टि मेरे ही सङ्कल्पमात्र से पैदा हुई है इसलिये मैं ही इन सबका परमेश्वर हूँ) ॥ ६ ॥ जो मेरी इस विभूति—प्रभाव—और योगशक्ति को यथार्थ रूप से जानता है, वह अचल—न डगमगानेवाले—योग से युक्त हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ७ ॥ हे अर्जुन! मैं परब्रह्म ही इस समस्त जगत् को पैदा करनेवाला हूँ और मुझसे ही सारे व्यवहार प्रवृत्त होते हैं (अर्थात् प्राणियों का उत्पन्न होना, चलना-फिरना और नाश होना इत्यादि सब प्रकार की चेष्टाएँ मुझ परमेश्वर की प्रेरणा से ही होती हैं)। विचारवान् लोग ऐसा जानकर, प्रेम और श्रद्धा से मुझ परमेश्वर को (निरन्तर) भजते हैं ॥ ८ ॥

उनका चित्त मुझ सच्चिदानन्दस्वरूप के ध्यान में लगा रहता है। वे अपने प्राणों को भी मेरे अर्पण कर देते हैं। एक दूसरे को मेरा ही उपदेश करते हुए वे नित्य मेरे स्वरूप ही की चर्चा करते हुए सन्तुष्ट और आनन्द में मग्न रहते हैं ॥ ९ ॥ जो सदैव इस प्रकार किया करते हैं अर्थात् जो मुझ सच्चिदानन्द के ध्यान या भजन में निरन्तर जुटे रहते हैं और प्रीतिपूर्वक मेरी उपासना किया करते हैं, उन्हें मैं ऐसी बुद्धि—ज्ञानयोग—देता हूँ जिसके कारण वे मेरे पास पहुँच जाते हैं यानी मेरे ही स्वरूप में लीन हो जाते हैं ॥ १० ॥ ऊपर कहे हुए भक्तों के ऊपर दया करके, मैं उनके अन्तःकरण में बैठा हुआ ज्ञान-

रूपी दीपक के प्रकाश से उस अन्धकार का नाश कर देता हूँ जो अज्ञान से—अपने स्वरूप को यथार्थ न जानने के कारण—पैदा हुआ है ॥ ११ ॥

अर्जुन ने कहा—

हे कृष्ण ! आप परम ब्रह्म हैं, परम धाम हैं और परम पवित्र—शुद्धस्वरूप—हैं। देवऋषि नारद, असित, देवल और व्यास इत्यादि सब ऋषि आपको दिव्यरूप, शाश्वत (भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल में एकरस रहनेवाला) परम पुरुष आदिदेव, अज, अर्थात् उत्पत्ति-नाश से रहित और विभु यानी सर्वव्यापक कहते हैं। फिर आप स्वयं भी अपने श्रीमुख से ऐसा ही कहते हैं ॥ १२, १३ ॥ हे केशव !

जो कुछ आप कहते हैं इस सबको मैं सत्य मानता हूँ; क्योंकि आपके प्रभाव, प्रताप या स्वरूप को हे भगवन्! न (इंद्रादि) देवता ही जानते हैं और न (मधु आदि) दानव ॥ १४ ॥ हे पुरुषोत्तम! हे भूतभावन—सब भूतों (पदार्थों) के उत्पन्न करनेवाले—हे भूतेश—सब प्राणियों के ईश्वर—हे देवों के देव! हे जगन्नाथ! आप ही अपने आपको यथार्थ रूप से जानते हैं और दूसरा कोई आपको नहीं जानता ॥ १५ ॥ हे भगवन्! जिन विभूतियों से आप इन लोकों में व्याप्त हुए विराजमान हैं उन अपनी समस्त अलौकिक विभूतियों को पूर्ण रूप से केवल आप ही कह सकते हैं और कोई नहीं कह सकता ॥ १६ ॥ हे योगिराज!

निरन्तर आप ही का ध्यान करते हुए मैं आपको किस तरह जान सकता हूँ ? किन-किन पदार्थों में मुझे आपका ध्यान करना चाहिए ? ॥ १७॥ हे जनार्दन ! आपकी अमृतरूपी वाणी के सुनने से मेरी तृप्ति नहीं होती अर्थात् मेरा मन नहीं भरता इसलिए आप अपनी योगशक्ति की महिमा और विभूतियों को विस्तार से फिर कहिए ॥१८॥

भगवान् ने कहा—

हे कुरुओं में श्रेष्ठ ! अच्छा, अब मैं तुझे अपनी मुख्य-मुख्य दिव्य विभूतियों का हाल सुनाता हूँ। मेरी विभूतियाँ अनन्त हैं अर्थात् समस्त विभूतियों के विस्तार का तो कुछ अन्त ही नहीं है ॥ १९ ॥ हे गुडाकेश ! सब प्राणियों के

भीतर रहनेवाला आत्मा मैं हूँ, मैं ही सब प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त हूँ अर्थात् मैं ही सबका पैदा करनेवाला, पालन करनेवाला और नाश करनेवाला हूँ ॥ २० ॥ हे अर्जुन ! (बारह) आदित्यों में विष्णु मैं हूँ, अग्नि आदि प्रकाशमान ज्योतियों में किरणोंवाला सूर्य मैं हूँ, (उनचास) मरुद्गणों—वायु के देवताओं—में मरीचि नाम का वायु मैं हूँ और (सत्ताईस) नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ ॥ २१ ॥ वेदों में सामवेद मैं हूँ, देवताओं में इन्द्र मैं हूँ, आँख, कान आदि ग्यारह इन्द्रियों में मन मैं हूँ, सब प्राणियों में चेतनाशक्ति मैं हूँ । ग्यारह रुद्रों में शंकर मैं हूँ, यक्ष-राक्षसगणों में कुबेर—धन का मालिक—मैं हूँ,

आठ वसुओं में अग्नि मैं हूँ और पर्वतों में मेरु पर्वत मैं
हूँ ॥ २२, २३ ॥ हे पृथापुत्र! पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति
तू मुझे जान। सेनापतियों में स्कन्द मैं हूँ, जलाशयों—
झीलों या तालाबों—में सागर—समुद्र—मैं हूँ ॥ २४॥
महर्षियों में भृगु मैं हूँ, वाणियों में एक अक्षर "ओंकार" मैं
हूँ, यज्ञों में जप-यज्ञ मैं हूँ, स्थावरों में यानी स्थिर रहनेवाले
अचल पदार्थों में हिमालय मैं हूँ ॥२५॥ सब वृक्षों में पीपल
मैं हूँ, देव-ऋषियों में नारद मैं हूँ, गन्धर्वों में चित्ररथ मैं हूँ,
सिद्धों में कपिलमुनि मैं हूँ ॥२६॥ घोड़ों में अमृत से उत्पन्न
हुआ उच्चैःश्रवा तू मुझे जान, हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों
में राजा तू मुझे ही जान ॥२७॥ शस्त्रों में वज्र मैं हूँ, गायों

मैं कामधेनु मैं हूँ, सन्तान उत्पन्न करनेवाला कामदेव मैं हूँ
और साँपों में वासुकि मैं हूँ ॥ २८ ॥ नागों में अनन्त यानी
शेषनाग मैं हूँ, जलचरों यानी जल के देवताओं में वरुण मैं
हूँ, पितरों में अर्यमा मैं हूँ, संयम करनेवालों में अर्थात् अपने
आपको वश में करनेवालों में यम मैं हूँ (अथवा शासन करने-
वाले या दंड देनेवाले लोगों में यमराज मैं हूँ) ॥२६॥ दैत्यों
में प्रह्लाद मैं हूँ, गिनती करनेवालों में काल मैं हूँ, हिरनों में
सिंह मैं हूँ, पक्षियों में गरुड़ मैं हूँ ॥३०॥ वेगवाले पदार्थों में
या पवित्र करनेवालों में पवन मैं हूँ, शस्त्रधारियों में राम
अथवा परशुराम मैं हूँ, मछलियों में मगर मैं हूँ और नदियों
में (प्रसिद्ध और श्रेष्ठ) श्रीगङ्गाजी मैं हूँ ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन !

सृष्टियों का अर्थात् प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त
(यानी उत्पत्ति, स्थिति और लय) मैं ही हूँ, सब विद्याओं में
अध्यात्मविद्या—ब्रह्मविद्या—मैं हूँ, और शास्त्रार्थ करने-
वालों में तत्त्वनिर्णय के लिए किया जानेवाला वाद यानी
सिद्धान्त मैं हूँ ॥३२॥ अक्षरों में अकार (अ) मैं हूँ, समासों में
प्रधान द्वन्द्व समास मैं हूँ, अक्षयकाल मैं ही हूँ अर्थात् मैं ही
औरों के नाश करनेवाला और स्वयं न नाश होनेवाला काल
हूँ, सब ओर मुखवाला और सबके कर्मों का फल देनेवाला मैं
ही हूँ (अथवा चारों ओर से मुखवाला ब्रह्मा मैं ही हूँ) ॥३३॥
सब प्राणियों के प्राण नाश करनेवाली मृत्यु मैं हूँ; मनुष्यों
के होनेवाले कल्याण और अभ्युदय का कारण मैं ही हूँ

स्त्रियों में कीर्ति (यश), लक्ष्मी, वाणीरूप सरस्वती,
स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ ॥ ३४ ॥ सामवेद
की ऋचाओं में बृहत्साम (भारी गीत) मैं हूँ, छन्दों में
गायत्री छन्द मैं हूँ, महीनों में मार्गशीर्ष—मंगसिर—
मास मैं हूँ, और छः ऋतुओं में वसन्त ऋतु मैं हूँ ॥ ३५ ॥
छलनेवालों में जुआ मैं हूँ, तेजस्वियों का तेज मैं हूँ,
जीतनेवालों में जीत मैं हूँ, उद्योग करनेवालों में व्यवसाय
और सात्त्विक पुरुषों में सत्त्व मैं हूँ ॥ ३६ ॥ यादवों में वसु-
देव का पुत्र वासुदेव (कृष्ण) मैं ही हूँ, पाण्डवों में (प्रसिद्ध
धनुर्धारी और श्रेष्ठ होने के कारण) अर्जुन मैं ही हूँ,
मुनियों में श्रीवेदव्यास मैं हूँ और कवियों में शुक्राचार्य

मैं ही हूँ ॥ ३७ ॥ दण्ड देनेवालों में दण्ड, जय की इच्छा करनेवालों में राजनीति मैं हूँ, गुप्त पदार्थों को गुप्त रखने में मौन मैं हूँ और ज्ञानी पुरुषों का जो सारभूत ब्रह्मज्ञान है, वह मैं हूँ, ॥ ३८ ॥ और हे अर्जुन! सब जीवों की उत्पत्ति का कारण—बीज—मैं हूँ, चराचर (चलनेवाले और न चलनेवाले) प्राणियों में ऐसा कोई भी नहीं है, जिसमें मैं न हूँ ॥ ३९ ॥ हे अर्जुन! सच तो यह है कि मेरी दिव्य—अलौकिक—विभूतियों का अन्त नहीं है अर्थात् इन सारी विभूतियों का वर्णन पूर्णरूप से कोई कर ही नहीं सकता। यह जो मैंने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है, वह बहुत ही संक्षिप्त है ॥ ४० ॥ इस सबका तत्त्व यह है कि जो-जो

वस्तु ऐश्वर्यमान्, कान्तिमान् और शक्तिवाली हैं, उन सबको मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जान ॥ ४१ ॥
अथवा हे अर्जुन ! इन सब विषयों के जानने से तुझे क्या लाभ होगा ? मैं संक्षेप में तुझे यह कह देता हूँ कि इस समस्त जगत् को मैंने एक अंश से धारण कर रक्खा है ॥ ४२ ॥

गीता के दसवें अध्याय का माहात्म्य



महादेवजी ने पार्वती से कहा—हे प्रिये! उसके बाद भगवान् विष्णु गीता के दसवें अध्याय का माहात्म्य कहने लगे। विष्णु ने कहा—काशीपुरी में एक धर्मात्मा, शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, वेद-वेदाङ्ग का पारंगत, ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण रहता था। एक दिन वह विश्वेश्वरनाथ के मन्दिर में जाकर आचमन करके एकाग्रचित्त होकर भगवान् शंकर का ध्यान करने लगा। भृङ्गिरिटि नाम का महादेव का एक गण उसे देख रहा था। उसने बड़े आश्चर्य से महादेवजी से पूछा—'भगवन्, यह महात्मा ब्राह्मण अपने हृदय में आपका दर्शन कर रहा है। इसने कौन तपस्या की है, जिसके

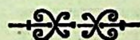
प्रभाव से इस प्रकार ध्यान में मग्न होकर आपका दर्शन कर रहा है, जो देवताओं के लिए भी दुर्लभ है।' महादेवजी ने उस गण से कहा--'इस विषय में हम एक पुरानी कथा कहते हैं, सुनो। एक बार हम पार्वती समेत कैलाश पर्वत पर बैठे थे। एक हंस कमल का फूल लेकर हमारे पास आया और प्रणाम करके बैठ गया। वह कौवे के समान काला था। हमने पूछा-'तुम कौन हो और कौवे की तरह काले कैसे हो गये हो?' हंस हाथ जोड़-कर बोला---'भगवन्, मैं ब्रह्मा का वाहन हूँ। आपका दर्शन करने के लिए ब्रह्मलोक से आया हूँ। मैं आकाश में उड़ता हुआ जब मानस-सरोवर के ऊपर आया तब अकस्मात् मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। थोड़ी देर बाद होश आने पर मैंने देखा कि मेरा शरीर, जो कपूर के समान सफ़ेद था, काला हो गया है, मुझे बड़ी चिन्ता हुई। मैं गिरने का कारण सोचने लगा। उसी समय मानससरोवर से आवाज़ आई--हे हंस,

उठो और यहाँ आकर अपने गिरने का कारण सुनो। मैंने वहाँ जाकर बहुत से कमलों के बीच में एक कमलिनी देखी। कमलिनी ने मुझसे कहा—'तुम हमारे ऊपर से उड़ गये हो, इसी से तुम आकाश से गिर पड़े और काले हो गये।' मैंने कमलिनी से पूछा—'तुम कौन हो, और कमलिनी कैसे हो गई हो?' तब वह अपना हाल कहने लगी—'मैं पहले एक ब्राह्मणी थी। एक दिन मैना को पढ़ा रही थी, उसी समय मेरे पतिदेव आये। मैंने उठकर उनका यथोचित सत्कार नहीं किया। उन्होंने क्रुद्ध होकर मुझे शाप दे दिया कि तू भी मैना हो जा। उसी शाप से मैं दूसरे जन्म में मैना हुई। मैं एक मुनि के आश्रम पर रहती थी। वह मुनि प्रतिदिन गीता के दसवें अध्याय का पाठ किया करते थे। मैं वह पाठ सुना करती थी। जब मैना का शरीर छूटा तब मैं उसी के प्रभाव से पद्मावती नाम की अप्सरा हुई। एक दिन मैं इस सरोवर में जलक्रीड़ा

करती थी उसी समय दुर्वासा मुनि आ पहुँचे। मैं उनको देखकर डर के मारे कमलिनी का रूप धारण करके कमलों के बीच में छिप गई थी, किन्तु उन्होंने मुझे नंगी देख लिया था। महाक्रोधी दुर्वासा ने कुपित होकर शाप दिया—'रे दुष्टे तू सौ वर्ष तक अब इसी रूप में रहेगी। कमलिनी ने फिर मुझसे कहा कि हे हंस! यह गीता के दसवें अध्याय के सुनने का प्रभाव है, जो मैं कमलिनी के रूप में रहकर भी बोल रही हूँ। आज सौ वर्ष पूरे हो गये; इसलिए मैं शाप से मुक्त होकर स्वर्ग को जाती हूँ।' हंस ने महादेवजी से कहा कि इतना कहकर वह कमलिनी दिव्य अप्सरा का रूप धारण करके देवलोक को चली गई। चलते समय वह मुझसे कह गई है कि तुम जब किसी ब्रह्मवादी ब्राह्मण के मुँह से गीता के दसवें अध्याय का पाठ सुनोगे तब तुम्हारा शरीर पहले का-सा हो जायगा और अन्त को अक्षयलोक प्राप्त करोगे। मैं आपका दर्शन करने के लिए आया

था, वह मेरा मनोरथ पूरा हो गया है, अब मैं किसी ब्राह्मण के मुँह से गीता के दसवें अध्याय का पाठ सुनने के लिए जाऊँगा।' भगवान् शंकर ने गण से कहा कि यह कहकर वह हंस चला गया और एक तपोवन में, जहाँ एक तपस्वी गीता के दशवें अध्याय का पाठ करता था, बैठकर सुनने लगा। अंत को वह हंस का शरीर त्यागकर श्रेष्ठ ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न हुआ। यह वही ब्राह्मण है। इसने पूर्वजन्म में गीता के दसवें अध्याय का पाठ सुना है उसी के प्रभाव से इस जन्म में ब्रह्मज्ञानी हुआ और ध्यान लगाकर अपने हृदय में मेरा दर्शन कर रहा है।'

ग्यारहवाँ अध्याय



अर्जुन ने कहा—

आपने कृपा करके मेरी भलाई के लिए यह जो अत्यन्त गुप्त रखने के योग्य अध्यात्म ज्ञान कहा है, उससे मेरा सारा मोह—भ्रान्ति व अज्ञान—दूर हो गया है ॥ १ ॥ मैंने प्राणियों के पैदा होने और नाश होने का वर्णन आपसे विस्तारपूर्वक सुना और हे कमल के पत्ते के सदृश नेत्रवाले

भगवान् कृष्णचन्द्र ! आपका अक्षय माहात्म्य भी सुना ॥ २ ॥ हे परमेश्वर ! जैसा आपने अपने को कहा है आप वैसे ही हैं तो भी मैं आपके उस ईश्वरीय रूप को (जो आपने दसवें अध्याय में ज्ञान, ऐश्वर्य, बल और तेज इत्यादि नाना विभूतियों से वर्णन किया है) अपने नेत्रों से देखना चाहता हूँ ॥ ३ ॥ हे प्रभो ! यदि आप यह समझते हैं कि आपका वह विश्वरूप मेरे लिए देखना सम्भव है तो हे योगियों के ईश्वर (योगेश्वर) ! आप मुझे उस अपने अविनाशी स्वरूप के दर्शन कराइये ॥ ४ ॥

भगवान् ने कहा—

हे अर्जुन ! तू मेरे अनेक प्रकार के दिव्य—अलौकिक

या अद्भुत—अनेक रंग और विलक्षण आकृतियोंवाले सैकड़ों तथा हज़ारों रूपों को देख ॥ ५ ॥ हे भरत की सन्तान—अर्जुन ! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, अश्विनी-कुमारों और मरुत्गणों को देख, और मेरे इस विश्वरूप में बहुत से अद्भुत रूपों को भी तू देख, जो पहले तूने कदापि न देखे थे ॥ ६ ॥ हे गुडाकेश—घने बालोंवाले अर्जुन ! तू आज मेरे इस शरीर में चराचर सहित सारे जगत् को एक ही जगह ठहरा हुआ देख, इसके अलावा और जो कुछ भी तू देखना चाहता है, वह सब भी देख ले (यानी तुझे अपनी हार-जीत के विषय में जो भ्रम हो गया है उसे भी मेरे शरीर में देखकर अपना सन्देह

मिटा ले) ॥ ७ ॥ परन्तु हे अर्जुन ! तू मेरे विश्वरूप को अपनी इन आँखों से न देख सकेगा, इसलिए मैं तुझे दिव्य नेत्र यानी दिव्य दर्शनशक्ति देता हूँ, इससे मेरे ऐश्वर्य योग अर्थात् विश्वरूप को देख ॥ ८ ॥

संजय ने कहा—

हे राजा धृतराष्ट्र ! यह कहकर, महायोगेश्वर हरिरूप भगवान् कृष्णचन्द्र ने अपना सर्वोत्तम विश्वरूप अर्जुन को दिखलाया ॥ ९ ॥ उसमें अनेक मुख और अनेक नेत्र थे, अनेक अद्भुत दृश्य दिखाई देते थे, वह रूप अनेक प्रकार के आभूषणों से शोभायमान था और (दुष्टजनों को संहार करने के लिए) अनेक दिव्य अस्त्र-शस्त्रों को वह रूप

धारण किये हुए था ॥ १० ॥ वह रूप (पुष्प तथा रत्न आदि की) अलौकिक मालाएँ और दिव्य वस्त्र पहिने हुए था। (कपूर, चन्दन आदि) दिव्य सुगन्धित चीज़ों का उस पर लेपन हो रहा था, वह रूप सर्व प्रकार से विस्मय पैदा करनेवाला, देवता स्वरूप और अन्तरहित था और उसके सब ओर मुँह ही मुँह थे ॥ ११ ॥ आकाश में यदि एक हज़ार सूर्यों का प्रकाश एक साथ ही हो, तो भी वह सब मिला हुआ प्रकाश भगवान् के उस विश्वरूप के तेज के समान शायद ही हो ॥ १२ ॥ तब अर्जुन ने इन्द्रादि देवताओं में पूज्य अर्थात् देवाधिदेव भगवान् कृष्ण के शरीर में अनेक प्रकार से बँटे हुए सारे जगत् को एक ही जगह

देखा ॥ १३ ॥ हे राजन्! उस विश्वरूप को देखकर अर्जुन को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसके रोंगटे खड़े हो गए, उसने सिर झुकाकर भगवान् को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर इस प्रकार प्रार्थना की ॥ १४ ॥

अर्जुन ने कहा:—

हे देव! आपके इस शरीर में (आदित्य, वसु आदि) सब देवताओं को, अनेक प्रकार के प्राणियों के समूह को, कमल आसन पर बैठे हुए सबके स्वामी ब्रह्मा को, (वशिष्ठ, नारद आदि) सब ऋषियों को और (वासुकि आदि) दिव्य साँपों को भी मैं देखता हूँ ॥ १५ ॥ मैं आपका रूप ऐसा देखता हूँ कि उसमें अनेक भुजाएँ हैं; अनेक पेट,

अनेक मुख, अनेक नेत्र और वह सब ओर से अनन्त रूप हैं। हे विश्व के ईश्वर! हे विश्वरूप! न आपके आदि का पता है, न मध्य का और न अन्त का अर्थात मैं आपके विश्वरूप को सर्व प्रकार से अनादि और अनन्त देख रहा हूँ ॥१६॥ हे भगवन्! मुझे ऐसा दिखाई देता है कि आपने (सिर पर) मुकुट और (हाथ में) गदा और चक्र धारण कर रखे हैं। तेज का पुञ्ज—समूह—सब ओर से अपनी प्रभा फैलाये हुए है, प्रज्वलित यानी दमकती हुई अग्नि और सूर्य के समान आपका रूप चमक रहा है, इसीलिए बड़ी कठिनता से उस पर दृष्टि ठहरती है और आप अप्रमेय हैं अर्थात् यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि आपका रूप

किसके समान है; क्योंकि आपके रूप का कोई सादृश्य नज़र नहीं आता ॥ १७ ॥ हे कृष्ण ! आप अत्तर यानी अविनाशी हैं, मुमुक्षुजनों के जानने योग्य परब्रह्म परमात्मा आप ही हैं, इस (झूठे) संसार के परम आधार आप ही हैं, आप अव्यय अर्थात् निर्विकार हैं, सनातनधर्म के रक्षक भी आप ही हैं और वास्तव में सनातन पुरुष भी आप ही हैं, ऐसा मेरा मत है ॥ १८ ॥ आप आदि, मध्य और अन्त से रहित हैं अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और विनाश इन तीनों से परे हैं। आपकी शक्ति का अन्त नहीं है। आपके अनगिनती भुजाएँ हैं। चन्द्र और सूर्य ये दोनों आपके नेत्र हैं। जलती हुई अग्नि के समान आपका मुख है और आप इस सा

संसार को अपने तेज से तपा रहे हैं॥ १६ ॥ हे महात्मन्! आकाश और पृथ्वी के बीच का मध्यभाग (अथवा स्वर्ग से लेकर पृथिवी तक जो फ़ासला है वह) और सारी दिशाएँ केवल आपसे ही व्याप्त—भरपूर—हैं। और हे भगवन्! आपके इस अद्भुत और भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक काँप रहे हैं॥ २० ॥ हे कृष्ण! (और मैं क्या देख रहा हूँ कि) देवताओं के झुण्ड-के-झुण्ड आपमें ही प्रवेश कर रहे हैं। कितने ही डर के मारे अपने दोनों हाथ जोड़े हुए आपके गुणों का बखान कर रहे हैं। नारद आदि महर्षि तथा कपिल आदि सिद्धों के झुण्ड, स्वस्ति यानी कल्याण हो ऐसा कहकर बड़ी-बड़ी स्तुतियों से

आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥ २१ ॥ (ग्यारह) रुद्र, (बारह)
आदित्य, (आठ) वसु, साध्य नामक देवता, (दस) विश्वे-
देव, (दो) अश्विनीकुमार, (उनचास) मरुद्गण—वायु
देवता—उष्मपा नाम के पितर, गन्धर्व (कुबेर आदि),
यक्ष, असुर और सिद्धों के समूह ये सबके सब आश्चर्य से
चकित हुए आपको देख रहे हैं ॥२२॥ हे बड़ी भुजाओंवाले
भगवान् कृष्ण ! आपके अनेक मुख और अनेक नेत्र हैं
बहुत-सी भुजाएँ, जाँघें और पैर हैं तथा अनेक पेट हैं। आप
बहुत ही भयानक दाढ़ोंवाले हैं। आपके इस भयानक विश्व
रूप को देखकर सारे लोक काँप रहे हैं और स्वयं मेरा भी
यही हाल है ॥ २३ ॥ हे भगवन् विष्णो ! आपका शरी

आकाश को छू रहा है, आपका रूप अनेक रंगों में चमक रहा है; आपके मुख खुले हुए हैं और बड़े-बड़े नेत्र चमक रहे हैं। आपका यह विश्वरूप देखकर निस्सन्देह मेरा चित्त घबरा रहा है, वह किसी तरह धीरज और शान्ति को प्राप्त नहीं होता ॥ २४ ॥ (सबको निगल जानेवाली) प्रलय-काल की अग्नि के समान विकराल अथवा भयानक दाढ़ोंवाले मुखों को देखकर भय के मारे मैं दिशाओं को भूल गया हूँ अर्थात् अब मुझे यह नहीं सूझता कि पूरब आदि दिशाएँ किधर हैं और न मुझे कोई आश्रय-स्थान ही नजर आता है। हे देवताओं के स्वामी! हे जगत् के निवासस्थान! आप मुझ पर प्रसन्न हूजिए ॥ २५ ॥

हे कृष्ण ! दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के सारे पुत्र, सब राजाओं सहित, तथा भीष्म, द्रोण और वह सूत-पुत्र कर्ण और हमारी ओर के धृष्टद्युम्न आदि मुख्य-मुख्य योद्धा भी आपके विकराल भयानक दाढ़ोंवाले मुख में जल्दी-जल्दी घुसे जा रहे हैं। कई एक योद्धा तो दाँतों के बीच के छेदों में चकनाचूर हुए सिरों के साथ लटकते हुए दिखाई देते हैं ॥२६,२७॥ जिस प्रकार नदियों की अनेक धाराएँ समुद्र की ओर दौड़ती हैं, वैसे ही मनुष्यलोक के ये सब (भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि) शूरवीर आपके सब ओर से प्रज्वलित—धधकते हुए—मुखों में प्रवेश कर रहे हैं ॥ २८ ॥ जिस तरह पतंगे अपने नाश के लिए जलती हुई अग्नि या दीपक

झपटकर जाते हैं, उसी तरह ये दुर्योधन आदि शूरवीर भी अपने नाश के लिए बड़ी तेज़ी के साथ आपके विकराल मुखों में घुसे जा रहे हैं ॥ २९ ॥ आप चारों ओर से अपने प्रज्वलित मुखों से सब लोकों को निगल-निगलकर चाट रहे हैं। हे विष्णो ! आपकी उग्र कान्ति अर्थात् तीव्र प्रकाश अपने तेज से सब जगत् को परिपूर्ण—व्याप्त—करके (अग्नि के समान) तपा रहा है ॥ ३० ॥ हे भगवन् ! आप ऐसे भयंकर रूपवाले कौन हैं ? हे देवताओं में श्रेष्ठ ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ, आप प्रसन्न हूजिए। मैं आपके विषय में कुछ भी नहीं जानता, इसलिए मैं आपके आदि रूप—पहिलेवाले रूप—को जानना चाहता हूँ ॥ ३१ ॥

भगवान् ने कहा:—

मैं लोकों के नाश करनेवाला भयंकर रूप काल हूँ, इस समय लोगों के संहार करने—नाश करने—के लिए मैं यहाँ आया हूँ। इसलिए (भीष्म, द्रोण आदि) ये योद्धा, जो तेरे शत्रु की सेना में सजे खड़े हैं, तू इनको यदि किसी कारणवश न भी मारेगा, तब भी अवश्य ही मरेंगे ॥ ३२ ॥

इसलिए हे अर्जुन! तू उठ और यश कमा अर्थात् मुफ़्त में इस यश को प्राप्त कर। इन शत्रुओं को जीतकर ऐश्वर्य-सम्पन्न निष्कण्टक राज्य को भोग। ये सब योद्धा मेरे द्वारा पहिले ही मार डाले गए हैं। हे बाएँ हाथ से भी तीर चलाने-वाले अर्जुन! तू तो अब केवल निमित्तमात्र—नाममात्र—

मारनेवाला हो जा ॥ ३३ ॥ द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और इनके सिवाय अन्यान्य—और दूसरे—शूरवीर योद्धा जो मेरे द्वारा पहिले ही मार डाले गए हैं, इन मारे हुओं को तू मार डाल। तू ज़रा भी न डर, उठ और युद्ध कर। तू शत्रुओं को लड़ाई में अवश्य जीतेगा ॥ ३४ ॥

संजय ने धृतराष्ट्र से कहाः—

हे राजन्! केशव अर्थात् कृष्ण के यह वचन सुनकर मुकुटधारी अर्जुन ने काँपते हुए, हाथ जोड़कर, भगवान् को नमस्कार किया। डरते-डरते कृष्ण को फिर प्रणाम करके गद्गद वाणी से इस प्रकार अर्जुन कहने लगा ॥ ३५ ॥

अर्जुन ने कहा:—

हे भगवान् कृष्ण ! यह ठीक है कि आपके नाम, गुण और महिमा के कारण ही यह सारा जगत् आपसे प्रसन्न है और आपमें भक्ति रखता है। राक्षस लोग (आपका नाम लेते ही) भय के मारे (दशों) दिशाओं में भागे फिरते हैं, और सिद्धों के समूह आपको नमस्कार करते हैं ॥ ३६ ॥ हे महात्मन् ! हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ हैं और उसके आदिकर्त्ता यानी पैदा करने वाले हैं, तब ऐसी हालत में यह सब जगत् आपको नमस्कार क्यों न करे ? सत्, असत् से भी परे या सबसे परे जो परम सूक्ष्म ब्रह्मतत्त्व है, वह भी आप ही हैं ॥ ३७ ॥ हे भगवान्

कृष्ण ! आप (इस जगत् की उत्पत्ति के कारण) आदि-देव हैं ; (सबसे पुराने और अनादि होने के कारण) आप पुरातन पुरुष हैं; महाप्रलय के समय यह समस्त जगत् आप ही में लय हो जाता है, अतएव आप परम निधान हैं; (सर्वज्ञ होने के कारण) आप सबके जाननेवाले हैं ; जानने योग्य (तत्त्व वस्तु) भी आप ही हैं ;(सच्चिदानन्दस्वरूप होने से) परम धाम भी आप ही हैं; हे अनन्त रूपोंवाले भगवन् ! आप ही से यह सब संसार व्याप्त हो रहा है ॥ ३८ ॥ आप वायु हैं, यमराज हैं, अग्निदेवता, वरुणदेवता और चन्द्रमा भी आप ही हैं ; प्रजापति यानी सारे जगत् के पितामह अर्थात् ब्रह्मा भी आप ही हैं ब्रह्मा के पिता भी आप ही हैं,

इसलिए (सब देवताओं के स्वरूप होने के कारण) आप-
को हज़ार-हज़ार बार नमस्कार है और फिर भी बार-बार
आपको नमस्कार है ॥ ३९ ॥ हे भगवन्! आपको सामने से,
पीछे से तथा सब ओर से नमस्कार है। आप अनन्त शक्ति
और अनन्त पराक्रमवाले हैं। आप सबमें व्यापक हैं, इसी
लिए आप सर्वरूप हैं ॥ ४० ॥ आपको मैं अपना मित्र
समझता था और आपकी इस महिमा को मैं न जानता
था, जिससे आपको मैंने हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे! ऐसे
रूखे, कठोर शब्दों में भूल से अथवा प्रेमवश कई बार सम्बो-
धन किया है। ऐसे ही खेलने के समय, सोने के समय,
बैठते और भोजन करते समय, अकेले में या अन्य मित्रों

के सामने, मैंने जो आपका अनादर किया है, उसके लिए आप मुझे क्षमा करें। हे कृष्ण! आप अप्रमेय प्रभाववाले हैं॥ ४१, ४२॥ आप इस स्थावर-जङ्गमरूप जगत् के पिता हैं। आप इस जगत् के (रचने और पालनेवाले होने के कारण) पूज्य हैं। आप ही जगत् के गुरु और सबसे श्रेष्ठ हैं; क्योंकि आपकी बराबरी करनेवाला कोई नहीं है। हे अतुल प्रभाववाले कृष्ण! तीनों लोकों में आपसे बढ़कर भला और कौन हो सकता है! अर्थात् इस सारे ब्रह्माण्ड में आपसे बढ़कर कोई नहीं हो सकता॥ ४३॥ इसलिए सबके पूज्य और स्तुति योग्य ईश्वर! मैं आपको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करके आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप

मुझ पर प्रसन्न हूजिए । और हे देव ! पिता जैसे पुत्र के, मित्र जैसे मित्र के तथा पति जैसे पत्नी के अपराधों को क्षमा करता है, उसी प्रकार आप मेरे अपराधों को क्षमा करें ॥ ४४ ॥ हे भगवन् ! आपके इस विश्वरूप को मैंने पहिले कभी नहीं देखा था, इसे देखकर मैं प्रसन्न हो रहा हूँ, पर मेरा मन भय के मारे घबरा रहा है । इसलिए हे देव ! हे देवेश–देवताओं के स्वामी–और हे जगन्निवास (जगत् के निवासस्थान) ! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हूजिए और वही अपना पहिला रूप दिखाइए ॥ ४५ ॥ हे हज़ारों भुजाओंवाले ! हे विश्वमूर्ति धारण करनेवाले भगवन् ! मैं आपको पहिले की तरह सिर पर मुकुट धारण किए और

हाथ में गदा और चक्र लिए हुए चतुर्भुज रूप में देखना चाहता हूँ ॥ ४६ ॥

भगवान् ने कहा:—

हे अर्जुन! तेरी प्रार्थना से प्रसन्न होकर, मैंने अपने योगबल से तुझे अपना यह तेजोमय–प्रकाशमान–अनन्त, अनादि और परम उत्कृष्ट विश्वरूप दिखाया है, जिसको तेरे सिवाय पहिले किसी ने नहीं देखा था ॥ ४७ ॥ हे कुरुओं में श्रेष्ठ अर्जुन! वेदों को पढ़कर, यज्ञ करके, दान करके, अग्नि-होत्र आदि कर्म करके और घोर तपस्या करके भी कोई मनुष्य, इस मृत्युलोक में सिवाय तेरे इस मेरे विश्वरूप को नहीं देख सकता है ॥ ४८ ॥ हे अर्जुन! तू मेरे इस विकराल

रूप को देखकर भय मत कर और न तू घबरा। भय को त्यागकर और प्रसन्नचित्त होकर तू फिर मेरे उसी पहिलेवाले रूप को देख ॥ ४९ ॥

संजय ने कहा:—

(हे धृतराष्ट्र!) अर्जुन से इस प्रकार कहकर वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना वही पहिलेवाला रूप दिखलाया और उस महात्मा कृष्ण ने वही सौम्य रूप अर्थात सुन्दर, शान्त और मनोहर रूप धारण करके डरे हुए अर्जुन को धीरज दिया ॥ ५० ॥

अर्जुन ने कहा:—

हे जनार्दन! आपका यह सुन्दर और प्यारा मनुष्य रूप

देखकर मेरा भय जाता रहा है और मैं पहिले की तरह साव-
धान हो गया हूँ अर्थात् मेरे जी-में-जी आ गया है ॥ ५१ ॥

भगवान् ने कहा—:

हे अर्जुन ! यह मेरा विश्वरूप जो तूने देखा है, औरों
के लिए इसका देखना अत्यन्त कठिन है। देवता भी इस
मेरे रूप के देखने की हर रोज़ इच्छा करते रहते हैं (किन्तु
वे अभी तक इस रूप को तेरे समान नहीं देख सके और न
कभी देख सकेंगे) ॥ ५२ ॥ जो रूप तूने (अपनी भक्ति के
प्रभाव से) देखा है, उसे कोई पुरुष वेद पढ़कर, घोर तप करके
दान करके और अग्निहोत्र आदि कर्म करके भी नहीं
देख सकता है ॥ ५३ ॥ किन्तु हे शत्रुओं के नाश करनेवाले

अर्जुन ! मेरे इस विश्वरूप को मनुष्य केवल अनन्य भक्ति द्वारा देख सकते हैं और तत्त्वज्ञान द्वारा मुझमें पूर्णरूप से प्रवेश कर सकते हैं ॥ ५४ ॥ हे पाण्डुपुत्र ! जो मेरे ही लिए कर्म करता है, जो मुझे ही प्राप्त करना अपना मुख्य कर्तव्य समझता है, जो मुझमें ही अनन्यभक्ति रखता है, जो आसक्तिरहित है अर्थात जो किसी से प्रेम नहीं करता और किसी प्राणी से वैर-भाव नहीं रखता, वही मुझे पाता है ॥ ५५ ॥



गीता के ग्यारहवें अध्याय का माहात्म्य

भगवान् विष्णु ने लक्ष्मीजी से कहा—"हे देवि! आप गीता के ग्यारहवें अध्याय का माहात्म्य सुनो। दक्षिण दिशा में विवाहमण्डप नाम का एक नगर है। वहाँ हालिका नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह खेती करके अपनी जीविका करता था। एक दिन वह धान का खेत रखाता था, उसी समय राह में जाते हुए एक मनुष्य को किसी हिंसक जीव ने मारकर खा लिया। यह हाल एक योगी देख रहा था। उसने हालिका पर क्रुद्ध होकर उससे कहा—'हे अधम ब्राह्मण, तू इतना निर्दय है कि तेरे सामने इस मनुष्य को हिंसक जीव खा रहा है, और तू बोलता

भी नहीं है। यदि तू दया करके इसकी रक्षा करता तो इसके प्राण बच जाते। तू राक्षस के समान निर्दय और कठोर है, इसलिए तू राक्षस हो जा।' महर्षि का यह शाप सुनकर हालिका हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा—'भगवन्! मैंने इस राही को नहीं देखा, यदि जान-बूझकर इसकी उपेक्षा करता, तो मेरा अपराध था। हे महर्षि, मुझ निरपराध को आप क्षमा कीजिए। आपका वचन अवश्य ही सत्य होगा और मुझे राक्षस होना पड़ेगा, किन्तु कृपा करके मेरे उद्धार का कोई उपाय बताइए।' महर्षि ने कहा—'यदि गीता के ग्यारहवें अध्याय का नित्य पाठ करने वाला कोई ब्राह्मण गीता के मन्त्रों से अभिमन्त्रित जल तुम्हारे ऊपर छिड़केगा, तो तुम राक्षस-देह से छूटकर परमपद को जाओगे।' यह कहकर महर्षि तो चले गये और वह ब्राह्मण उसी समय राक्षस हो गया। जब वह गाँववालों को मार-मारकर खाने लगा तब उन लोगों ने उससे प्रार्थना की

कि तुम इस गाँव में ठहरनेवाले मुसाफ़िरों को खा लिया करो और हम लोगों पर दया करो। हम लोग मुसाफ़िरों के ठहरने के लिए यहाँ एक धर्मशाला बनवा देंगे। जो मुसाफ़िर आकर उसमें ठहरे, तुम उसी का मांस खाया करो। राक्षस ने गाँववालों की बात मान ली। उस दिन से वह वहाँ के ठहरनेवालों का ही मांस खाता था और गाँव के किसी आदमी को नहीं सताता था। एक दिन एक ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण तीर्थयात्रा करता हुआ उस गाँव में आया। उसके साथ और भी बहुत से ब्राह्मण थे। साँझ हो गई थी, इसलिए वह उसी धर्मशाला में ठहर गया। यद्यपि गाँववाले जहाँ तक हो सकता था, मुसाफ़िरों के प्राणों की रक्षा के लिए उनको टरका दिया करते थे, और बहुत कम मुसाफ़िर वहाँ ठहरने पाते थे, किन्तु सीधे-सादे ब्राह्मण उनके गुप्त भाव को न भाँप सके और उसी धर्मशाला में ठहर गये। रात को वह राक्षस आया और ब्राह्मण के अन्य सब

साथियों को तो खा गया, किन्तु उस ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण को न खा सका। सबेरा होने पर जब वह चलने लगा तब धर्मशाला के द्वारपाल ने हाथ जोड़कर उससे प्रार्थना की कि महाराज, आज के दिन आप और ठहर जाइए, कल चले जाइएगा। द्वारपाल के अनुरोध से वह कई दिन तक वहाँ ठहरा रहा। यह देखकर गाँववालों को बड़ा अचम्भा हुआ। क्या कारण है, जो ब्राह्मण को राक्षस नहीं खाता। एक दिन और कई मुसाफ़िर आये और उसी धर्मशाला में ठहर गये। उन मुसाफ़िरों में द्वारपाल के पुत्र का एक मित्र भी था। जब उसे मालूम हुआ तब वह अपने मित्र को वहाँ से भगा देने के लिए धर्मशाला में गया। इतने में राक्षस आया और मुसाफ़िरों के साथ उसे भी खा लिया। जब द्वारपाल को यह हाल मालूम हुआ तब वह राक्षस के पास गया और रो-धोकर कहने लगा कि किसी उपाय से हमारे पुत्र को जिला दो। राक्षस ने कहा—

धर्मशाला में कई दिन से एक ब्राह्मण ठहरा है। वह नित्य गीता के ग्यारहवें अध्याय का पाठ करता है। यदि वह गीता के मन्त्र पढ़कर हमारे ऊपर जल छिड़के, तो तुम्हारा पुत्र हमारे पेट से निकलकर जी उठे और भी जितने मनुष्यों को हमने खाया है, वे सब जी जायँ। यह सुनकर द्वारपाल ने उस ब्राह्मण के पास जाकर सब हाल कहा। ब्राह्मण ने ज्यों ही गीता के मन्त्र पढ़कर राक्षस के ऊपर जल छिड़का त्यों ही उसने राक्षस-देह छोड़कर दिव्यरूप धारण कर लिया। आकाश से विमान आया, और वह उस पर बैठकर वैकुण्ठलोक को चला। द्वारपाल का पुत्र और जितने मुसाफ़िर राक्षस के पेट में गये थे, सब दिव्य-रूप धारण करके विमान पर बैठकर वैकुण्ठ को चले। द्वारपाल ने अपने पुत्र से कहा— 'बेटा, तुम हमको छोड़कर कहाँ जा रहे हो?' पुत्र ने उत्तर दिया— 'पिताजी, आप हमारा मोह न कीजिए। इस संसार में न कोई किसी का

पिता है और न कोई किसी का पुत्र। कितने ही बार आप भी हमारे पुत्र हो चुके हैं। संसार के सब जीव अपने कर्मों के फल से बार-बार जन्म लेते और मरते रहते हैं। जिसे ब्रह्मज्ञान हो जाता है वह अपने ज्ञान के बल से ब्रह्मस्वरूप होकर संसार से मुक्त हो जाता है। हम भी आज इस ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण की कृपा से संसार से मुक्त होकर अक्षय लोक को जा रहे हैं। यह ब्राह्मण नित्य गीता के ग्यारहवें अध्याय का पाठ करता है। उसी के प्रभाव से इसने हम सबको और इस राक्षस को मुक्त कर दिया है। आप भी इस ब्राह्मण से गीता के ग्यारहवें अध्याय का पाठ पढ़कर उसी की आराधना कीजिए। उसी के प्रभाव से आप भी हमारी तरह परमपद प्राप्त करेंगे।' यह कहकर वह वैकुण्ठधाम को चला गया और द्वारपाल उस ब्राह्मण से गीता का ग्यारहवाँ अध्याय पढ़कर प्रतिदिन पाठ करने लगा। कुछ दिनों बाद उस ब्राह्मण के साथ द्वारपाल भी शरीर त्यागकर विष्णुलोक को गया।

बारहवाँ अध्याय

भक्तियोग

अर्जुन ने कहाः—

जो सदा आपके सगुण विश्वरूप की उपासना करते हैं वे अच्छे हैं या जो आपको अक्षर, अविनाशी और अव्यक्त समझकर उपासना करते हैं, वे उत्तम हैं? अर्थात् इन दोनों में कौन बढ़कर योग के जाननेवाले हैं? ॥ १ ॥

भगवान् ने कहाः—

हे अर्जुन! जो मुझमें अर्थात् मेरे सगुण रूप के ध्यान में मन लगाकर अनन्य भक्ति द्वारा, परम श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करते हैं, उन्हें मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूँ ॥२॥ परन्तु जो पुरुष सबको एक समान समझते हुए, सब प्राणियों की भलाई में लगे हुए, अपनी सारी इन्द्रियों को वश में करके (सगुण रूप की उपासना छोड़कर) केवल उस निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हैं, जो अक्षर यानी अविनाशी है, अकथनीय है अर्थात् जिसका वाणी द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता है। अव्यक्त है यानी जो इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता है, सर्वव्यापी है, अचिन्त्य है अर्थात्

जिसका ध्यान नहीं किया जा सकता है; कूटस्थ है यानी जो माया का स्वामी है; अचल अर्थात् निर्विकार है; और ध्रुव यानी नित्य और स्थिर है—ऐसे उपासक निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होते हैं यानी मेरा स्वरूप ही हो जाते हैं ॥३,४॥

हे अर्जुन! मेरे निर्गुणस्वरूप की उपासना में जिनका चित्त लगा हुआ है, उन्हें (मेरे सगुणरूप की उपासना की बनिस्बत) बहुत ही अधिक कष्ट उठाना पड़ता है, क्योंकि शरीरधारियों के लिये अव्यक्त यानी अक्षरब्रह्म अथवा निर्गुण स्वरूप की उपासना करना बड़ा कष्टदायक है (कारण यह है कि ऐसा करने से उन्हें अपने शरीर की ममता भी त्यागनी पड़ती है, जिससे उन्हें बड़ा कष्ट होता है) ॥ ५ ॥ परन्तु जो

भक्त सारे कर्मों को मेरे अर्पण करके मुझे ही परम गति मानते हैं और सबको छोड़कर, भक्तिपूर्वक, मेरा ही ध्यान करते हुए, मुझे ही स्मरण करते हैं और जिनका चित्त मुझमें ही लगा हुआ है, मैं उनका शीघ्र ही इस मृत्युरूप संसार-सागर से उद्धार कर देता हूँ ॥ ६,७ ॥ हे अर्जुन ! तू अपने चित्त को मुझमें ही जमा दे, मेरे ही चिन्तन में अपनी बुद्धि को लगा दे। ऐसा करने पर मृत्यु के बाद तू मुझमें निवास करेगा इसमें सन्देह नहीं है ॥ ८ ॥ हे धनञ्जय ! यदि तू अपने चित्त को निश्चल रूप से मुझमें जमा नहीं सकता है, तो ऐसी हालत में अपने चञ्चल चित्त को विषयों से हटाकर बारम्बार मुझमें लगा। इस प्रकार अभ्यासयोग द्वारा तू

मुझे प्राप्त करने की चेष्टा कर, अर्थात् लगातार यत्न करने पर एक दिन तेरा चित्त अवश्य ठहर जायगा और फिर तू मुझ में आ मिलेगा ॥ ९ ॥ हे अर्जुन ! यदि तू अभ्यासयोग भी नहीं कर सकता अर्थात इधर-उधर भटकते हुए चित्त को सब ओर से बारम्बार हटाकर मुझ में नहीं जमा सकता तो केवल मेरे लिए कर्म कर यानी मुझे प्राप्त करने के लिए ज्ञान, ध्यान, भजन और पूजा-पाठ आदि कर्मों में लगा रह, इस प्रकार मेरे लिए कर्म करते हुए (अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा) तुझे सिद्धि प्राप्त हो जायगी अर्थात तू मुझे अवश्य प्राप्त हो जायगा ॥ १० ॥ हे अर्जुन ! अगर तू यह भी न कर सके तो अपने-आपको वश में करके और सब

कुछ मुझे ही मानकर मेरी शरण में आ और सारे कर्मों के फल की इच्छा को त्याग दे यानी जो भी कर्म तू करे उन सब कर्मों को मेरे अर्पण कर दे और उन कर्मों के फल की वासना त्याग दे ॥ ११ ॥ अभ्यास से ज्ञान अच्छा है, उस ज्ञान से ध्यान अच्छा है, ध्यान से कर्मफलों का त्याग देना श्रेष्ठ है, क्योंकि कर्मफलों के छोड़ देने पर ही शान्ति मिलती है॥ १२॥

हे अर्जुन! जो किसी भी प्राणी के साथ वैर नहीं रखता, जो सबका मित्र या हितैषी है, जो सब पर दया करता है, जो किसी भी पदार्थ में मोह नहीं रखता और अहङ्कार से अलग है, जो सुख-दुःख में समान रहता है, जो क्षमावान् है अर्थात् तिरस्कार होने पर भी जिसे क्रोध नहीं आता जो

सदा सन्तोषी है, जो योगी है अर्थात् जो अपने इष्टदेव के ध्यान में सदा लगा रहता है, जिसने अपने मन को अपने वश में कर रक्खा है, जो पक्के निश्चयवाला है, और जिसने मन और बुद्धि को मेरे अर्पण कर दिया है अर्थात् जिसका मन मुझको छोड़कर किसी दूसरी ओर नहीं जाता, बल्कि सदा मुझमें ही लगा रहता है—ऐसा जो मेरा भक्त है, वही मुझे प्यारा लगता है ॥ १३, १४ ॥ जिस मनुष्य से कोई प्राणी दुःखी नहीं होता, और जो किसी प्राणी से दुःखी नहीं होता, जो खुशी, रंज, भय और व्याकुलता से रहित है, वह मुझे प्यारा है ॥ १५ ॥ जो किसी भी चीज़ की परवाह नहीं करता, जो (भीतर और बाहर दोनों तरह से) पवित्र है, जो चतुर

है, जो उदासीन है (अर्थात् जो मित्र और शत्रु किसी की ओर नहीं होता), जिसके मन में किसी प्रकार का दुःख नहीं है और जिसने लोक और परलोक के फल देनेवाले कामों को छोड़ दिया है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्यारा है ॥ १६ ॥ जो (मनचाही चीज़ मिलने पर) न तो खुश होता है, जो (अप्रिय वस्तु मिलने पर) न घृणा करता है, जो (प्यारी चीज़ के अलग होने से) न रंज करता है, जो (अप्राप्त वस्तु की) इच्छा नहीं करता है, तथा जिसने (कर्मों के) शुभ-अशुभ—बुरे-भले—फलों को छोड़ दिया है वही भक्त मुझे प्यारा है ॥ १७ ॥ जो मनुष्य शत्रु, मित्र, मान-अपमान को एक समान समझता है, जो सरदी-गरमी, सुख-दुःख में

एक समान रहता है और जो किसी में आसक्त नहीं होता, जिसके लिए निन्दा-स्तुति एक समान है, जो मौनी है अर्थात् चुप रहता है, बिना कोशिश किये जो कुछ मिल जाय, उसी में जो सन्तुष्ट रहता है, जो एक स्थान पर घर बनाकर सदैव नहीं रहता, और जो स्थिर बुद्धिवाला है यानी जिसका मन चंचल नहीं है, ऐसा भक्त मुझे प्यारा है ॥ १८, १९ ॥ जो मेरे भक्त श्रद्धापूर्वक मेरे धर्मयुक्त अमृत-रूपी वाक्यों का पान करते हैं यानी मेरे उपदेशानुसार इन नियमों पर चलते हैं और मुझ अविनाशी को ही अपना परम आश्रय समझते हुए मेरी ही उपासना करते हैं, वे भक्त हे अर्जुन ! मुझे अत्यन्त ही प्यारे हैं ॥ २० ॥

गीता के बारहवें अध्याय का माहात्म्य

विष्णु भगवान् ने लक्ष्मीजी से कहा--"हे प्रिये, गीता के बारहवें अध्याय का माहात्म्य कहता हूँ, सुनो। कोल्हापुर नाम के प्रसिद्ध नगर में बृहद्रथ नाम का एक राजा रहता था। उसने वेद-विधि के अनुसार अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया। उसी समय राजा बीमार हुआ और मर गया। तब यज्ञ करानेवालों ने यह तय किया कि राजा का शव (लाश) तेल में रखकर सुरक्षित रक्खा जाय और यज्ञ का घोड़ा लौटने पर उसका पुत्र यज्ञ करे। इस निर्णय के अनुसार राजा का शव तेल में रख दिया गया।

जब यज्ञ का घोड़ा देश भर में घूमकर यज्ञभूमि में आया तब दैवयोग से उसे कोई चुरा ले गया। बहुत खोज करने पर भी जब घोड़े का कहीं पता न लगा, तब राजकुमार दुखित होकर देवी के मन्दिर में जाकर प्रार्थना करने लगा—'हे देवि, हे जगदम्बे, मैं आपकी शरण हूँ, मेरी रक्षा कीजिए। मुझे इस धर्मसंकट से बचाइए। यज्ञ में दीक्षित मेरे पिता की मृत्यु हो गई और यज्ञ का घोड़ा भी कोई चुरा ले गया। आप सब जगह व्यापक हैं, तीनों लोकों में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ आप न हों; अतएव आपकी कृपा से मुझे यज्ञ का घोड़ा मिल जाय।' इस प्रकार स्तुति करने पर देवी प्रसन्न होकर बोलीं—'राजकुमार, मन्दिर के द्वार पर एक सिद्ध ब्राह्मण रहता है उसके पास जाओ, वह तुम्हारा घोड़ा मँगा देगा।' देवी की यह आज्ञा पाकर वह उस ब्राह्मण के पास गया और हाथ जोड़कर उससे सब हाल कहा। ब्राह्मण ने आँखें मूँदकर देवताओं का ध्यान किया। उसी दम

इन्द्र आदि देवता वहाँ आये और ब्राह्मण ने उनसे कहा—'इस राजकुमार के यज्ञ का घोड़ा, जहाँ कहीं हो, आप ला दें।' ब्राह्मण के कहने पर देवताओं ने घोड़ा लाकर राजकुमार को दे दिया। घोड़ा पाकर राजपुत्र बड़ा प्रसन्न हुआ और हाथ जोड़कर फिर ब्राह्मण से बोला—'भगवन्, आपका यह अद्भुत प्रभाव देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ है; आप सब कुछ कर सकते हैं, आपकी महिमा अपार है। मेरे पिता की मृत्यु हो गई है और उनका शव (लाश) तेल में रक्खा है। यदि आप उनको जिला दें तो बड़ी कृपा हो।' राजकुमार की प्रार्थना सुनकर ब्राह्मण को दया आई। राजा का शव जहाँ रक्खा था, वहाँ वह गया और कुछ मन्त्र पढ़कर उस शव पर जल छिड़क दिया। उस जल के छींटे पड़ते ही राजा जीवित होकर उठ बैठा और ब्राह्मण से पूछने लगा—'हे ब्रह्मन्, आपको यह शक्ति कैसे प्राप्त हुई है, जिसके प्रभाव से आपने यह अद्भुत काम किया है। ब्राह्मण ने कहा—

मैं सदा गीता के बारहवें अध्याय का पाठ किया करता हूँ, यह उसी का प्रभाव है।' राजा बृहद्रथ यज्ञ समाप्त करके गीता के बारहवें अध्याय का पाठ करने लगा। अन्त को वह शरीर त्यागकर वैकुण्ठलोक को गया।"



तेरहवाँ अध्याय



क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ

भगवान् ने कहा:—

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं; जो पुरुष इसे जानता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं, इस विषय के जानने-वाले उसे ऐसा कहते हैं ॥ १ ॥

हे राजा भरत की संतान—अर्जुन! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ तू मुझे ही जान यानी सब शरीरों में जीव तू मुझे ही समझ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही मेरी समझ में परमेश्वर का सच्चा ज्ञान है ॥ २ ॥ वह क्षेत्र यानी शरीर क्या है? किसके सदृश या किस स्वभाववाला है, उसमें क्या-क्या विकार पैदा होते हैं, किन-किन कारणों से क्या-क्या कार्य उत्पन्न होते हैं और वह खुद किससे होता है? और वह क्षेत्रज्ञ यानी जीव वास्तव में क्या है और उसका ऐश्वर्य—प्रभाव—कैसा है, यह सब मैं तुझे संक्षेप में बताता हूँ ॥ ३ ॥ इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विषय को वशिष्ठ आदि ऋषियों ने ऋक्, साम आदि वेदों में अनेक प्रकार के छन्दों में भिन्न-भिन्न विधि से वर्णन

किया है और युक्तियों तथा निश्चित अर्थवाले ब्रह्मसूत्र पदों में भी यह विषय अनेक तरह से समझाया गया है ॥ ४ ॥ पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ, पाँच कर्म-इन्द्रियाँ, एक मन और शब्द आदि पाँच ज्ञान-इन्द्रियों के विषय—ये चौबीस तत्त्व हैं और इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात यानी पाँच तत्त्वों से बना यह शरीर, चेतना और धीरज इन सब विकारों से यह शरीर—क्षेत्र—बना हुआ बतलाया गया है ॥ ५, ६ ॥

अब कृष्ण भगवान् क्षेत्रज्ञ के जानने योग्य साधनों को विस्तारपूर्वक कहते हैं:—

(१) मानरहित अर्थात् मान की चाह न होना; (२) अपनी बड़ाई न करना; (३) अहिंसा—किसी प्राणी को

न मारना, न दुःख देना ; (४) क्षमा यानी दूसरों के कष्ट देने पर भी क्रोध न करना ; (५) सरलता अर्थात् कोमल स्वभाव होना या भीतर-बाहर एक समान होना ; (६) गुरु-सेवा—ब्रह्मविद्या के उपदेश देनेवाले गुरु की भक्तिपूर्वक सेवा करना ; (७) शुद्ध—पवित्र रहना ; (८) स्थिरता—सब ओर से मन हटाकर; अनेक प्रकार के विघ्न होने पर भी एकमात्र मोक्षलाभ करने के लिए कोशिश करते रहना ; (९) आत्मा का निग्रह अर्थात् अपने मन को सब ओर से हटा-कर और ठीक रास्ते पर लगाकर अपने वश में रखना ; (१०) इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य होना अर्थात् कान आदि इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में रुचि न रखना ; (११)

अहङ्काररहित होना यानी "मैं ऐसा हूँ, वैसा हूँ" इस प्रकार का घमंड न करना; (१२) जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, ज्वर आदि रोग और दुःख की बुराइयों पर बारम्बार विचार करना; (१३) आसक्ति यानी किसी चीज़ में प्रीति न रखना; (१४) स्त्री, पुत्र और घर आदि में न फँसे रहना; (१५) भले-बुरे पदार्थों के प्राप्त होने पर चित्त को सदा एक समान रखना अर्थात् प्रिय वस्तु के मिलने पर प्रसन्न न होना और अप्रिय वस्तु के मिलने पर दुःखी न होना, बल्कि दोनों दशाओं में एकसाँ रहना; (१६) मुझ वासुदेव में ही अटल भक्ति रखना; (१७) (किसी नदी के किनारे या वन में) अकेले रहना; (१८) साधारण लोगों की भीड़-भाड़ में जाने

या बैठने से अरुचि; (१९) सदा आत्मा के ज्ञान में लगे रहना; और (२०) तत्त्वज्ञान के विषय में निरन्तर विचारते रहना—ये सब क्षेत्रज्ञ के ज्ञान के साधन कहे हैं। इसके विपरीत अर्थात् मान, दम्भ इत्यादि जो धर्म हैं, वे सब अज्ञान कहलाते हैं ॥ ७, ८, ९, १०, ११ ॥ हे अर्जुन! जो जानने योग्य है, उसे मैं कहूँगा; उसके जान लेने से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। वह अनादि परम ब्रह्म है; अतएव वह सत्-असत् यानी व्यक्त या अव्यक्त नहीं कहा जा सकता ॥ १२ ॥ हे अर्जुन! उस क्षेत्रज्ञ यानी ब्रह्म के सब ओर हाथ-पाँव हैं, उसके सब तरफ़ नेत्र, सिर और मुख हैं, उसके हर ओर कान हैं। जगत् में

सबको व्याप्त करके यानी घेर करके वह स्थित है ॥ १३ ॥

वह ब्रह्म यद्यपि सब इन्द्रियों के गुणोंवाला प्रतीत होता है, पर वास्तव में वह कान, नाक आदि इन्द्रियों से रहित है। वह आसक्त यानी सम्बन्ध से रहित है तथापि सबका भरण-पोषण अर्थात् पालन करनेवाला वही है, इसी प्रकार वह निर्गुण होने पर भी सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों का भोगनेवाला है ॥ १४ ॥ वह सब प्राणियों के अन्दर और बाहर मौजूद है। वह चर भी है और अचर भी है अर्थात् मनुष्य, पशु और पक्षी आदि चलने फिरनेवालों के साथ चर मालूम होता है, लेकिन वही ब्रह्मवृक्ष, आदि में अचर—न हिलने-डोलनेवाला—मालूम होता है। वह सूक्ष्म यानी

बहुत ही छोटा है, इसलिए वह किसी इन्द्रिय द्वारा नहीं जाना जा सकता। वह दूर भी है और पास भी ॥ १५ ॥

यद्यपि सब प्राणियों में (आकाश के समान) वह एक ही है, किन्तु भिन्न-भिन्न शरीरों में वह भिन्न-भिन्न रूप से बँटा हुआ दिखाई देता है। वह क्षेत्रज्ञ-ब्रह्म ही सब प्राणियों का पालन करनेवाला, नाश करनेवाला और पैदा करनेवाला है ॥ १६ ॥ वह ज्योतियों की भी ज्योति है (अर्थात् वह सूर्य-चाँद आदि में भी प्रकाश करनेवाला है) इसलिए वह अज्ञानरूपी अन्धकार से परे कहलाता है। वह स्वयं ज्ञान-स्वरूप है, वही जानने योग्य है, ज्ञान-रूप साधनों से ही वह मिलता भी है और प्राणीमात्र के हृदय में वह विराजमान

है अर्थात् वह सब जगह मौजूद है ॥ १७ ॥ हे अर्जुन ! इस प्रकार क्षेत्र अर्थात् शरीर, ज्ञान और ज्ञेय यानी क्षेत्रज्ञ, ये तीनों संक्षेप से कहे गये। जो मेरा भक्त उक्त तीनों विषयों को पूर्ण रीति से जान लेता है, वह मेरा भक्त ही नहीं, बल्कि मेरे सच्चिदानन्द-स्वरूप होने के योग्य हो जाता है यानी वह मेरी भक्ति में लीन होकर और ऊपर कहे हुए तीनों विषयों का ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पा जाता है ॥ १८ ॥

हे अर्जुन ! प्रकृति और पुरुष, इन दोनों को तू अनादि ही समझ। सोलह विकार (अर्थात् पृथ्वी, जल और वायु आदि पाँच महाभूत ; हाथ, पाँव आदि पाँच कर्मेन्द्रिय ; आँख, कान, नाक आदि पाँच ज्ञान-इन्द्रिय और एक मन)

तथा सुख, दुःख और मोह आदि गुण मेरी (अपरा) प्रकृति से ही पैदा हुए जान ॥ १९ ॥ कार्य और कारण को पैदा करनेवाली प्रकृति है और पुरुष जीवात्मा सुख-दुःख का भोगनेवाला है ॥ २० ॥

हे अर्जुन ! पुरुष अपनी प्रकृति में रहकर, प्रकृति से पैदा हुए सुख-दुःख आदि गुणों को निस्संदेह भोगता है। प्रकृति के गुणों में फँसे रहने के कारण से ही पुरुष को अच्छी-बुरी या ऊँची-नीची योनियों में जन्म लेना पड़ता है (वास्तव में वह सुख-दुःख और जन्म-मरण आदि से रहित है, और जिस पुरुष का माया से सम्बन्ध नहीं रहता वह मोक्ष को प्राप्त होता है) ॥ २१ ॥ इस देह में यह उत्तम पुरुष पास बैठ-

कर देखनेवाला अर्थात् साक्षी है। (शुभ कामों में) आनन्द देनेवाला या सलाह देनेवाला है, अपनी सत्ता से देह का पालन-पोषण करनेवाला है, सुख-दुःख आदि गुणों का भोगनेवाला है। (ब्रह्मा आदि का स्वामी होने के कारण) वह महेश्वर है, (सबमें व्यापक होने के कारण) वह परमात्मा है, यह क्षेत्रज्ञ पुरुष का स्वरूप वास्तविक स्वरूप है ॥ २२ ॥ हे अर्जुन! जो इस तरह पुरुष को जानता है और प्रकृति को गुणों सहित जान लेता है, वह महापुरुष, सब प्रकार की अवस्था में रहता हुआ भी, फिर जन्म नहीं लेता यानी उसकी मुक्ति हो जाती है ॥ २३ ॥ कितने ही योगी पुरुष अपने हृदय में, ध्यान द्वारा उस सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा को अपने

आत्मबल से देखते हैं। बहुत से लोग सांख्य-योग यानी प्रकृति-पुरुष अथवा माया-ईश्वर या तत्त्वचिन्तन द्वारा देखते हैं, और कितने ही कर्मयोग (यानी ईश्वर की सेवा करने के लिए निष्काम कर्म) द्वारा, अपने हृदय में आत्म-साक्षात्कार करते हैं॥ २४॥

हे अर्जुन! कितने ही ऐसे हैं जो (ध्यानयोग, सांख्य-योग और कर्मयोग) इन तीनों में से एक को भी नहीं जानते, केवल औरों से सुनकर उस अव्यक्त अक्षर की उपासना करते हैं और श्रद्धापूर्वक सुनने से इस जन्म-मरण से रहित हो संसार-सागर से तर जाते हैं॥ २५॥ हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन! समस्त संसार में जितने भी चर-अचर (चलने

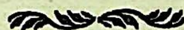
और न चलनेवाले) प्राणी या पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे सब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृति-पुरुष या माया-ईश्वर इन दोनों के संयोग से पैदा होते हैं ऐसा तू जान ॥ २६ ॥ जो सब प्राणियों में उस परमात्मा को समानभाव से देखता है और जो सब प्राणियों के नाश होने पर भी परमेश्वर को अवि-नाशी—नाश न होनेवाला—देखता है, वही देखता है अर्थात् वही सच्चे तत्त्व को पहचाननेवाला है ॥ २७ ॥ जो यह देखता है कि परमात्मा सबमें समानभाव से मौजूद है, वह आत्मा से आत्मा का नाश नहीं करता यानी उसे अपने आत्मा का यथार्थ ज्ञान है, इसलिए वह परमगति—मोक्ष—को प्राप्त होता ॥ २८ ॥

जो यह समझता है कि सब (भले-बुरे) काम प्रकृति ही करती है; आत्मा कुछ भी नहीं करता, वही आत्मा के विषय में ठीक-ठीक जानता है (और उसी की मुक्ति होती है)॥२९॥
जिस समय स्थावर-जङ्गमरूप सब पदार्थों व प्राणियों के अलग-अलग रूपों को, पुरुष (परमात्मा) की एक ही शक्ति में स्थित—टिका हुआ—देखता है और उसी ब्रह्म से उन समस्त पदार्थों का विस्तार देखता है, उस समय वह ब्रह्मरूप हो जाता है॥ ३०॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! परमात्मा अनादि निर्गुण यानी गुणरहित और अविनाशी है। यद्यपि वह शरीर में रहता है; लेकिन न कोई कर्म करता है और न कर्म के फलों में

लिप्त होता है ॥ ३१ ॥ जैसे सर्वव्यापी—सब जगह फैला हुआ—आकाश सूक्ष्म होने के कारण किसी पदार्थ में लिप्त नहीं होता, वैसे ही सब देहों में बैठा हुआ आत्मा (अति सूक्ष्म होने के कारण) इस देह के गुण-कर्म में लिप्त नहीं होता है ॥ ३२ ॥ हे अर्जुन! जिस प्रकार एक सूरज सारे जगत् में प्रकाश करता है, उसी प्रकार एक क्षेत्रज्ञ—आत्मा—सारे शरीरों को चैतन्य करता है ॥३३॥ जो ज्ञान की आँखों से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—जड़ और चेतन आत्मा-के भेद को देखते हैं और ऐसे ही माया से छूटने के उपाय को जान लेते हैं (यानी इस अध्याय के अर्थ को अच्छी तरह से समझ लेते) उनकी मुक्ति हो जाती है ॥ ३४ ॥

गीता के तेरहवें अध्याय का माहात्म्य



भगवान् शंकर ने पार्वती से कहा—"हे प्रिये, अब गीता के तेरहवें अध्याय का माहात्म्य सुनो। दक्षिण देश में तुंगभद्रा नदी के किनारे हरिहर-पुर नाम का एक नगर है। वहाँ हरिदीक्षित नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री बड़ी दुराचारिणी थी। स्त्री के जितने कुलक्षण शास्त्र में बताये गये हैं, वे सब उसमें थे। वह मदिरा (शराब) पीती थी। एक घड़ी भी घर में नहीं बैठती थी। सबसे लड़ाई-झगड़ा करना, घर-घर घूमना, घरवालों को डाँटना और उन्मत्त होकर परपुरुषों से बातचीत करना ही उसका मुख्य काम था। एक दिन वन में जा वसन्त ऋतु की चाँदनी रात में वह अपने किसी प्रेमी के वियोग में रोने लगी। उस वन में एक सिंह

रहता था, वह उसके रोने का शब्द सुनकर जाग पड़ा और दम भर में उस कुलटा को चीर-फाड़कर चट कर गया। वह अपने कुकर्मों के फल से यमलोक को गई और बहुत वर्षों तक नरक की घोर यातनाएँ सहकर एक चाण्डाल के घर में उत्पन्न हुई। उस जन्म में भी उसका स्वभाव वैसा ही हुआ और उसी तरह बुरे कर्म करने लगी। जहाँ वह चाण्डालिन रहती थी उसी के थोड़ी दूर पर शिवजी का एक मन्दिर था। उस मन्दिर में एक ब्राह्मण गीता के तेरहवें अध्याय का प्रतिदिन पाठ किया करता था। संयोगवश वह चाण्डालिन एक दिन घूमती हुई वहाँ गई और मन्दिर के पास एक पेड़ की छाया में बैठ गई। ब्राह्मण गीता का पाठ कर रहा था, वे शब्द चाण्डालिन के कान में भी पड़े। गीता का पाठ सुनने से उसके सब पाप छूट गये और जब वह मरी तब विमान में बैठकर वैकुण्ठलोक को गई।"



चौदहवाँ अध्याय



तीन गुण

भगवान् ने कहा:—

जिस ज्ञान के जान लेने से मुनि लोग इस मृत्युलोक से मोक्ष पा गए, हे अर्जुन! मैं तुझे उस परम—बड़े—और उत्तम ज्ञान का उपदेश फिर करता हूँ ॥ १ ॥ हे अर्जुन! इस ज्ञान का सहारा लेकर जो मुनि लोग मेरे अनुरूप हो गए

हैं यानी मेरे स्वरूप को प्राप्त हो गए हैं, वे सृष्टि की उत्पत्ति के समय न तो पैदा होते हैं और न प्रलय के समय दुःख भोगते हैं अर्थात् उन्हें न कभी जन्म लेना पड़ता है और न मरना ही पड़ता है ॥ २ ॥ हे अर्जुन! मेरी योनि महत् ब्रह्म है उसमें मैं गर्भ धारण करता हूँ यानी उसमें बीज डालता हूँ, उसी से सारे प्राणी पैदा होते हैं ॥ ३ ॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! सब योनियों में जो नाना प्रकार के आकारवाले शरीर पैदा होते हैं, उन सबकी योनि महत् ब्रह्म यानी प्रकृति है और उसमें बीज डालनेवाला सबका पिता मैं हूँ ॥ ४ ॥

हे बड़ी भुजाओंवाले अर्जुन! सत्त्व, रज और तम ये तीन

गुण प्रकृति से उत्पन्न होकर इस शरीर में निर्विकार अवि-नाशी जीवात्मा को बाँधते हैं (अर्थात् ये गुण जीव को अपना स्वरूप भुलाते हुए उसे नाशवान् और विकारी दिखलाते हैं; हालाँकि यह जीव इन गुणों में आसक्त होनेपर भी निर्विकार और अविनाशी ही रहता है) ॥ ५ ॥ हे पापरहित अर्जुन! इन तीन गुणों में से सतोगुण निर्मल यानी स्वच्छ होने के कारण प्रकाशवान्, निर्दोष, शान्तस्वरूप या सुख का देने-वाला है! यह सतोगुण ही, इसी ज्ञान और सुख के लालच में जीवात्मा को बाँधता है (अर्थात् सतोगुण के कारण से 'मैं सुखी हूँ' 'मैं ज्ञानी हूँ' ऐसा ख़्याल आत्मा करता है और इसी अहङ्कार से आत्मा का बन्धन होता है) ॥६॥ हे कुन्ती

के पुत्र ! रजोगुण को राग यानी प्रीति का उत्पन्न करनेवाला जान। यह तृष्णा और आसक्ति का मूल कारण है यानी किसी पदार्थ के पाने की अभिलाषा और उसमें प्रीति इसी से पैदा होती है। यह रजोगुण ही देहधारी जीव को काम में लगाकर बन्धन में फँसाता है ॥ ७ ॥

हे भारत ! तमोगुण अज्ञान से पैदा होता है, वह सब प्राणियों को भ्रान्ति यानी भूल में डालता है। वह आलस्य, नींद और प्रमाद से जीव को बाँधता है ॥ ८ ॥ हे भरत की सन्तान अर्जुन ! सतोगुण जीव को सुख में लगाता है, रजोगुण काम में और तमोगुण ज्ञान पर पर्दा डालकर जीव को भ्रम में डालता है ॥ ९ ॥ हे अर्जुन ! रजोगुण और तमोगुण को दबा-

कर सतोगुण बढ़ता है, सतोगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण प्रकट होता है और ऐसे ही सतोगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण होता है ॥ १० ॥

जिस समय, जो गुण बढ़ता है, उस समय उसके पहिचानने के जो लक्षण होते हैं उसे भगवान् अलग-अलग तीन श्लोकों में बतलाते हैं—

जिस समय इस देह और इन्द्रियों में ज्ञान का प्रकाश हो यानी जिस समय ज्ञानचर्चा अच्छी लगे, उस समय ऐसा समझो कि सतोगुण की प्रधानता है ॥ ११ ॥ हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ! लोभ (अधिक धन पैदा करने की अभिलाषा या पराया माल अपना करने की इच्छा), दिन-रात कामों में लगे रहना, नये-नये कामों को आरम्भ करना, अशान्ति

यानी बेचैनी और देखी या सुनी चीज़ों के पाने की इच्छा-इतने सब लक्षण जिस समय किसी प्राणी में प्रकट हों, तो समझ लेना चाहिए कि इस समय उस प्राणी में रजोगुण की प्रधानता है ॥१२॥ हे कुरुपुत्र! जिस समय तमोगुण बढ़ा हुआ होता है उस समय अज्ञान, कामों में अरुचि, प्रमाद और मोह पैदा होता है ॥ १३ ॥

किस गुण के समय मरने से कैसी गति होती है, यह भगवान् आगे के श्लोकों में बतलाते हैं—

हे अर्जुन! जब कोई देहधारी मनुष्य सतोगुण की प्रधानता के समय यह शरीर छोड़ता है, तो वह ब्रह्मलोकादि उत्तम उपासकों के लोकों में जाता है ॥ १४ ॥ जो रजोगुण

की प्रधानता के समय मरता है, वह कर्मसङ्गियों में उत्पन्न होता है यानी उन लोगों के घरों में जन्म लेता है जो कर्म-फलों में आसक्ति या प्रीति रखनेवाले हैं और जो तमोगुण के समय मरता है, वह पशु-पक्षी आदि मूढ़ योनियों में जन्म लेता है। (इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह सतोगुण बढ़ाने के लिए यत्न करे) ॥ १५ ॥ अच्छे कामों का फल सात्त्विक और निर्मल है यानी सतोगुण-सम्बन्धी कर्म करनेवाले सदैव सुखी रहते हैं; रजोगुण-सम्बन्धी कर्म करनेवाले दुःख भोगते हैं; और जो तमोगुण-सम्बन्धी कर्म करते हैं, उन्हें उन कर्मों का फल अज्ञान मिलता है ॥ १६ ॥ सतोगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है, और तमोगुण से

प्रमाद—असावधानता—मोह और अज्ञान ही पैदा होते हैं (इसलिए तमोगुण-सम्बन्धी कर्मों का फल भी अज्ञान, कर्म-हीनता और भूल है) ॥ १७ ॥ सतोगुणी ऊपर के लोक में जाते हैं, रजोगुणी मध्यलोक में यानी मनुष्यलोक में जाते हैं और तमोगुणी नीचे के लोक में जाते हैं ॥ १८ ॥

जो विचारवान् पुरुष गुणों के सिवाय और किसी को कर्त्ता नहीं समझता है और आत्मा को गुणों से परे अकर्त्ता, केवल साक्षीरूप जानता है, वही पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

जो प्राणी शरीर को उत्पन्न करनेवाले सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों को आत्मज्ञान द्वारा लाँघ जाता है, वह

जन्म, मरण और बुढ़ापे के दुःखों से छूटकर अमर हो जाता है यानी मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

अर्जुन ने कहा—

हे प्रभो ! जो इन तीन गुणों से अतीत है यानी इन तीनों गुणों को लाँघ जाता है या तीनों गुणों के पार चला जाता है अथवा इनसे अलग हो जाता है, उसकी क्या पहचान है? उसका आचार—रहन-सहन—कैसा होता है? वह इन तीनों गुणों से रहित कैसे हो जाता है? और गुणों से रहित होने का उपाय क्या है? ॥ २१ ॥

भगवान् ने कहा—

हे पांडुपुत्र अर्जुन! प्रकाश (जो सत्त्वगुण का कार्य है),

प्रवृत्ति—काम में लगना—(जो रजोगुण का कार्य है) और ऐसे ही मोह (जो तमोगुण का कार्य है) इन तीनों के वर्त्तमान होने पर, जो इनसे द्वेष नहीं करता यानी घृणा या नफ़रत नहीं करता और इनके वर्त्तमान न रहने पर इनकी इच्छा नहीं करता (ऐसे लक्षणवाला पुरुष गुणातीत होता है)॥ २२॥

हे अर्जुन! अब तू उसके आचार (रहन-सहन) के लक्षण सुन—

हे अर्जुन! जो उदासीन के समान रहता है और सत्त्व, रज, तम इन गुणों के कार्य से विचलित नहीं होता और जो ऐसा जानता है कि ये तीनों गुण अपने अपने कार्य में आप ही लगे रहते हैं, जो शान्त रहता है और अपने निश्चय से इधर-उधर नहीं डोलता है, वही गुणातीत है॥ २३॥

सुख-दुःख को समान समझता है, जो अपने आनन्दस्वरूप आत्मा में स्थित रहता है (या जो सदैव प्रसन्न रहता है), जो ढेले, पत्थर और सोने को समान समझता है, जो प्रिय-अप्रिय चीज़ों में या मित्र-शत्रु में कुछ फ़र्क़ नहीं समझता बल्कि एक समान ही समझता है, जो धीर अर्थात् धैर्यवान् और बुद्धिमान् है, और जो निन्दा-स्तुति यानी यश-अपयश को समान समझता है, वह गुणातीत है ॥ २४ ॥ जो मान-अपमान को एक समान समझता है, जो मित्र-शत्रु को बराबर समझता है (अर्थात् किसी की तरफ़दारी नहीं करता) और जो सारे धन्धों का त्यागी है यानी केवल परोपकार के लिए कर्म करता है, वह गुणातीत है ॥ २५ ॥ जो

पवित्र आत्मा अखण्ड भक्ति से मुझ सच्चिदानन्दस्वरूप की उपासना करता है, वह इन तीनों गुणों को लाँघ करके—पार करके—ब्रह्मस्वरूप होने के योग्य हो जाता है अर्थात् शरीर छोड़ते ही मोक्ष पाने योग्य हो जाता है ॥ २६ ॥ अविनाशी अमृतरूप ब्रह्म की मूर्ति या ब्रह्मरूप वासुदेव मैं हूँ, ऐसे ही सनातनधर्म (सदा रहनेवाले धर्म) तथा अखण्ड सुख का भी स्थान मैं ही हूँ ॥ २७ ॥

गीता के चौदहवें अध्याय का माहात्म्य

उसके बाद पार्वती ने पूछा—'भगवन्, गीता के तेरहवें अध्याय का माहात्म्य सुनकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ, अब कृपा करके गीता के चौदहवें अध्याय का माहात्म्य कहिए।' महादेवजी बोले—हे देवि, महाराष्ट्र देश में एक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री बड़ी कर्कशा और व्यभिचारिणी थी। एक दिन अपनी स्त्री का कुकर्म देखकर ब्राह्मण अपना क्रोध न सँभाल सका और उस कुलटा को तलवार के घाट उतारा। वह तो इस संसार से बिदा होकर यमलोक को गई और ब्राह्मण को स्त्री-हत्या का पाप लगा। स्त्री को यमपुर की यातना भोग लेने के बाद कुतिया का जन्म मिला। वह

एक राजा के घर में पली। राजा उसे लेकर शिकार को जाया करता था। उस ब्राह्मण को भी स्त्री-हत्या के पाप से दूसरे जन्म मे खरगोश होना पड़ा। एक दिन राजा शिकार को गया। वन में ही खरगोश देख पड़ा। कुतिया भी राजा के साथ थी, वह पूर्वजन्म के वैर का स्मरण करके खरगोश पर झपटी। खरगोश जी छोड़कर भागा, किन्तु कुतिया ने दौड़कर उसे पकड़ लिया। इतने में कुछ आदमियों के हुल्लड़ मचाने से खरगोश उसके मुँह से छूटकर भागा और एक मुनि के आश्रम पर गया। भागते भागते वह थक गया था और गले में कुतिया के दाँत लगने से घायल भी हो गया था। वह आश्रम पर पहुँचते ही गिर पड़ा और उसी दम मर गया। कुतिया भी उसके पीछे दौड़ती हुई आश्रम पर पहुँची और खरगोश के पास ही गिरकर वह भी मर गई। यह दोनों उस स्थान पर गिरे जहाँ मुनि के पैर धोने का पानी पड़ा था, इसी से उनके मरते ही आकाश से एक

विमान उतरा, उस पर बैठकर वे दोनों स्वर्गलोक को गये। उस समय मुनि के पास एक राजा बैठा था, उसने यह हाल देखकर मुनि से पूछा—'भगवन्! न दोनों ने कौन-सा पुण्य किया है, जिसके प्रभाव से इस प्रकार स्वर्गलोक गये?'

मुनि बोले—"इसका कारण बतलाता हूँ, सुनो। मैं गीता के चौदहवें ध्याय का प्रतिदिन पाठ करता हूँ, और यह दोनों जिस स्थान पर गिरकर हैं, वहाँ मेरे पैरों का धोवन (पानी) पड़ा था, उसी कीचड़ में लथपथ कर इन्होंने प्राण छोड़े हैं, इसी कारण इनको स्वर्गलोक प्राप्त हुआ है।" ना मुनि की बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसी दिन से गीता के दहवें अध्याय का पाठ करने लगा। अन्त को वह भी प्राण त्यागकर यलोक को गया।

पन्द्रहवाँ अध्याय

संसार-वृक्ष

भगवान् ने कहाः—

कहते हैं कि अविनाशी अश्वत्थ वृक्ष की जड़ ऊपर को है और उसकी शाखें नीचे की ओर हैं। छन्द इसके पत्ते हैं। जो इसे जानता है वह वेद-वेत्ता है यानी यथार्थ में वेदों का जाननेवाला वही है॥ १॥

उस वृक्ष की शाखाएँ नीचे और ऊपर की ओर फैली हुई हैं जो सत्त्व, रज आदि गुणों के जल से पुष्टि पाती हैं। शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि विषय जिसकी कोपलें हैं और नीचे मनुष्यलोक में उसकी जड़ें फैली हुई हैं, जो सब कर्मों की फाँस से बँधी हुई हैं (अर्थात् जो जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल मिलता है) ॥ २ ॥ इस लोक में उस वृक्ष का रूप वैसा नहीं पाया जाता, जैसा कि ऊपर कहा गया है। न तो उसका आदि है, न अन्त और न उसके आधारस्थान या मध्य का पता लगता है। उस मज़बूत जड़वाले वृक्ष को वैराग्यरूपी तेज़ तलवार से काटकर, फिर उस विष्णुपद को ढूँढना चाहिए यानी संसार के मूल कारण उस परमेश्वर की

खोज करनी चाहिए, जहाँ पहुँचकर वापस नहीं आना पड़ता और फिर उस आदि पुरुष की शरण में जाना चाहिए जिससे इस संसार का निकास हुआ है ॥ ३-४ ॥

अब भगवान् इस पद को प्राप्त होनेवाले पुरुषों के लक्षण बतलाते हैं—

जो सज्जन मान-अपमान और मोह यानी अविवेक से रहित हैं, जिनका मन पुत्र, धन, स्त्री आदि से हट गया है, जो हर समय अपने स्वरूप के ज्ञान और ध्यान में लगे रहते हैं, जिनकी लोक-परलोक की कामनाएँ—इच्छाएँ—दूर हो गई हैं और सुख-दुःख, गर्मी-सर्दी आदि द्वन्द्वों से जिनका छुटकारा हो गया है, ऐसे ही विचारवान् ज्ञानी पुरुष उस-निर्विकार अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं यानी उस सनातन

आदिपुरुष को पाते हैं ॥ ५ ॥ उस पद को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि (क्योंकि ये जड़ ज्योतियाँ उस परम ज्योतिःस्वरूप को प्रकाशित करने में नितान्त असमर्थ हैं), जिस विष्णुपद को प्राप्त होकर ज्ञानवान् पुरुष फिर इस संसार में वापस नहीं लौटते हैं, वही मेरा परम धाम है ॥ ६ ॥ हे अर्जुन ! इस संसार में जो सनातन जीव कहलाता है, वह मेरा ही अंश है। वह जीव प्रकृति में स्थित होकर आँख, कान, आदि पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ और छठे मन को, संसार के भोग भोगने के लिए खींचता है ॥७॥

जब यह जीव इस शरीर को छोड़कर नवीन देह धारण करता है यानी जन्म लेने लगता है तब वह इन इन्द्रियों को

ऐसे ले जाता है जैसे हवा (कस्तूरी व पुष्प आदि) सुगन्ध को दूसरी जगह ले जाती है (और अन्य स्थानों को सुगन्धित कर देती है) ॥ ८ ॥ कान, नेत्र, चमड़ा, जीभ, नाक और ऐसे ही मन को काम में लाकर या इनमें स्थित होकर यह जीव (इन इन्द्रियों के शब्द आदि) विषयों को भोगता है (इसीलिए शरीर छोड़ते समय या जन्म लेते समय इन इन्द्रियों को अपने साथ ले जाता है) ॥ ९ ॥ जीव का एक शरीर से निकलकर दूसरे में जाते हुए, शरीर में ठहरे हुए, विषय-भोगों को भोगते हुए और सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण से युक्त हुए जीव को मूढ़ लोग नहीं देखते। देखते हैं वे लोग, जिनके ज्ञान की आँखें हैं ॥ १० ॥ योगी लोग ही

ध्यान आदि उपायों से चेष्टा करने पर, इस जीव आत्मा को अपने हृदय में देखते हैं, किन्तु जो ज्ञानरहित हैं, जिनका चित्त या अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, वह चेष्टा करने पर भी उस शुद्धस्वरूप को अपने भीतर नहीं देख सकते ॥ ११ ॥ जो तेज सूर्य में रहकर सारे जगत् में प्रकाश फैलाता है और जो तेज चन्द्रमा तथा अग्नि में है, उस तेज को वास्तव में तू मेरा ही जान (अर्थात् इनमें जो तेज है वह इनका अपना नहीं बल्कि मेरा ही समझ) ॥ १२ ॥ मैं ही पृथ्वीरूप होकर अपने तेज से सारे प्राणियों को धारण करता हूँ (अर्थात् यह मेरा ही बल है जो इस पृथ्वी को थामे हुए है), मैं ही रसात्मक सोम यानी चन्द्रमा होकर पृथ्वी पर पैदा होनेवाली सारी ओष-

धियों (यानी चाँवल, गेहूँ आदि) का पोषण करता हूँ ॥१३॥
मैं वैश्वानर होकर प्राणियों की देह में रहता हुआ, प्राण-
अपानवायु के साथ मिलकर चारों प्रकार के भोजन को
पचाता हूँ ॥ १४ ॥ मैं ही सब प्राणियों के हृदय में
बैठा हुआ हूँ मैं ही पहिली बातों को याद दिलानेवाला हूँ,
मैं ही उनमें ज्ञान पैदा करनेवाला हूँ, मुझसे ही स्मृति और
ज्ञान का अभाव होता है यानी इनके नाश करनेवाला भी मैं
ही हूँ। जिस परमात्मा के जानने के लिए ये चारों वेद रक्खे
गए हैं, उनमें जानने योग्य परम तत्त्व मैं ही हूँ। मैं ही वेदान्त
का कर्ता और वेदों के अर्थ को यथार्थरूप से जाननेवाला
भी मैं ही हूँ ॥ १५ ॥ इस लोक में दो प्रकार के पुरुष हैं—

(१) क्षर यानी जो नाशवान् हैं (२) अक्षर यानी जो नाशरहित हैं। जितने भी उत्पत्ति और नाश होनेवाले प्राणी हैं वे क्षर हैं और जो विकाररहित हैं अथवा जो सबका कारण चेतन है वह अक्षर कूटस्थ*कहा जाता है॥ १६॥ किन्तु हे अर्जुन! इन दोनों से अलग उत्तम पुरुष दूसरा ही है, जिसे परमात्मा कहते हैं, वही (जन्म-मरण आदि सब विकारों से रहित होने के कारण) अविनाशी ईश्वर कहलाता है और वही तीनों लोकों में प्रवेश करके उन्हें धारण करता तथा उनका पालन-पोषण करता है॥ १७॥ मैं चूँकि क्षर और अक्षर दोनों से उत्तम हूँ, इसीलिए संसार में

* कूटस्थ—आत्मा।

और वेदों में मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ ॥ १८ ॥

हे अर्जुन ! जो विचारवान् पुरुष, इस प्रकार मुझ पुरुषोत्तम को जानता है, वह सबका जाननेवाला सम्पूर्ण भाव से मुझे ही भजता है यानी वह मेरा अनन्य भक्त हो जाता है ॥ १९ ॥ हे पापरहित अर्जुन! मैंने तुमसे सम्पूर्ण गीताशास्त्र (तथा सब वेदों का सार) संक्षेप में कह दिया है। इसके जान लेने पर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतार्थ हो जाता है ॥ २० ॥

गीता के पन्द्रहवें अध्याय का माहात्म्य



महादेवजी ने कहा—"हे पार्वती, गीता के पन्द्रहवें अध्याय का माहात्म्य सुनो। गौड़ देश में नरसिंह नाम का एक राजा था। उसके एक दुरात्मा मन्त्री ने राजा को राजकुमारों समेत मारकर स्वयं राज्य-शासन करने का इरादा किया, किन्तु दैवयोग से वह बीमार पड़ा और मर गया। उसने राजा को मार डालने की जो पाप बुद्धि की थी, इसी कारण मरने पर उसे सिन्ध देश में घोड़े का जन्म मिला। उस घोड़े के अच्छे लक्षण देखकर एक बनिये ने उसे खरीद लिया और राजा नरसिंह के पास जाकर बोला—'महाराज, मैंने सिन्ध देश में एक ऐसा घोड़ा देखा कि शास्त्र में बताए हुए सब लक्षण उस

घोड़े में मौजूद हैं। मैंने बहुत मूल्य देकर उसे आपके लिए ख़रीद लिया है। आज्ञा हो तो आपके सामने ले आऊँ।' राजा की आज्ञा से वह घोड़ा लाया गया और घोड़ों के गुण-दोष जाननेवाले विद्वान् मन्त्रियों की सलाह से राजा ने बहुत-सा सोना देकर घोड़ा ले लिया। एक दिन राजा उसी घोड़े पर सवार होकर शिकार को गया। एक हिरन के पीछे दौड़ते दौड़ते जब वह घने वन में पहुँचा और हिरन भी आँखों से ओझल हो गया तब घोड़े से उतरकर पीने के लिए पानी ढूँढ़ने लगा। उसी समय राजा को पहाड़ की एक शिला पर गीता के पन्द्रहवें अध्याय का आधा श्लोक लिखा हुआ देख पड़ा। वह उस श्लोक को पढ़ने लगा। उसका पाठ सुनते ही घोड़ा गिर पड़ा और उसी दम मर गया। राजा को घोड़े की मौत देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उसी वन में एक तपस्वी के स्थान पर जाकर यह सब हाल कहा और घोड़े के मरने का कारण पूछा। तपस्वी ने बताया कि

'यह घोड़ा पूर्व जन्म में आपका मन्त्री था, इसने आपको मारकर राज्य करने का विचार किया था, उसी पाप से इसे घोड़ा का जन्म मिला। आज आपके मुँह से गीता के पन्द्रहवें अध्याय का आधा श्लोक सुनकर, सब पापों से छूटकर स्वर्गलोक को चला गया है।' गीता का यह प्रभाव सुनकर राजा अपने घर आया और अपने पुत्र को राज्य का भार सौंपकर प्रतिदिन गीता के पन्द्रहवें अध्याय का पाठ करने लगा। अन्त को वह भी शरीर त्यागकर वैकुण्ठलोक को गया।"

सोलहवाँ अध्याय



भगवान् ने कहा—

(१) निर्भयता (यानी स्वभाव से ही भय का न होना) (२) अन्तःकरण की शुद्धि (अर्थात् संसार के सब व्यवहारों में छल, कपट और झूठ को छोड़कर अपने मन को शुद्ध करना) (३) ज्ञानयोग में दृढ़ता (शास्त्र या गुरु द्वारा आत्मा

के विषय में ज्ञान प्राप्त करना और चित्त को सब ओर से हटाकर आत्मध्यान में लीन रहना) (४) दान (देने योग्य ग़रीब मनुष्यों को धन, अन्न आदि देना) (५) दम यानी इन्द्रियनिग्रह (कान, आँख इत्यादि इन्द्रियों को अपने वश में करना) (६) यज्ञ (अग्निहोत्र तथा देवयज्ञ आदि करना) (७) स्वाध्याय यानी वेद पढना (वेदान्तशास्त्र या धर्म-पुस्तकों का पढ़ना या पढ़ाना) (८) तप (शारीरिक, वाचिक या मानसिक तप अथवा ब्रह्मचर्य आदि व्रतों से शरीर को वश में करना) (९) सरलता यानी सीधापन या कोमल स्वभाव (१०) अहिंसा (हिंसा न करना यानी किसी को शरीर, मन या वाणी से दुःख न पहुँचाना) (११) सच

बोलना (१२) क्रोध न करना (किसी के गाली देने पर भी गुस्सा न करना) (१३) त्याग (यानी संन्यास अथवा कर्मों का या विषयवासनाओं का छोड़ना) (१४) शान्ति (अपने अंतःकरण को अपने वश में रखना अथवा सहनशीलता या चित्त में उद्विग्नता न होने देना) (१५) किसी की चुग़ली न करना (१६) प्राणियों पर दया करना (सब जीवों को अपने समान जानकर उन पर दया करना और उन्हें कष्ट या दुःख से छुड़ाने के लिए भरसक यत्न करना) (१७) निर्लोभता (लालच का न होना या विषयभोगों के मौजूद होने पर भी उनमें मन न लगाना) (१८)कोमलता (कोमल स्वभाव रखना, किसी से भी कड़वी बात न कहना बल्कि

सबसे मीठी बात बोलना) (१९) लज्जा (न करने योग्य कर्मों के करने में शर्माना) (२०) चञ्चलता का त्याग (बिना मतलब न बोलना या बिना काम हाथपैर आदि का न चलाना) (२१) तेज (तेजस्वी या प्रभावशाली होना जिससे लोग देखने मात्र से दब जावें) (२२) क्षमा (किसी के सताने या अनादर करने पर भी सामर्थ्य होते हुए बदला लेने की इच्छा न करना या उस पर क्रोधित न होना) (२३) धीरता (धीरजता या धैर्य अथवा मुसीबत आने पर भी न घबराना) (२४) पवित्रता (बाहर भीतर से पवित्र रहना यानी मिट्टी पानी आदि से बाहरी शरीर का शुद्ध रखना और छल कपट आदि से अन्तःकरण को शुद्ध रखना) (२५) किसी

से घृणा या वैर न रखना (२६) अपने तईं बड़ा समझकर घमंड न करना (अपने से जो बड़े हैं उनके सामने नम्र रहना) हे भरतपुत्र अर्जुन! ये २६ गुण दैवी सम्पदावालों में होते हैं (अर्थात् ये २६ गुण उन पुरुषों में होते हैं जिनका भला होनेवाला होता है) ॥१–३॥ हे पृथापुत्र अर्जुन! (१) दम्भ यानी पाखण्ड (अपने ऐबों को छिपाकर लोगों के सामने अपने को धर्मात्मा ज़ाहिर करना और इस प्रकार अपने को बड़ा साबित करना) (२) दर्प यानी घमण्ड (विद्या वा धन आदि का गर्व करना) (३) अभिमान (दूसरों के आगे अपने को पूज्य या बड़ा मानना) (४) क्रोध यानी गुस्सा (५) किसी को दुखाने के लिए कड़वे वचन

कहना (६) अज्ञान (ठीक ज्ञान का न होना) ये छः लक्षण आसुरी सम्पदावालों के होते हैं (अर्थात् जिनका बुरा होने-वाला होता है) ॥४॥ दैवी सम्पदा से मोक्ष होती है। आसुरी प्रकृति संसार में फँसानेवाली या संसार-बन्धन में डालने-वाली होती है। हे अर्जुन! तू अपने बारे में सोच मत कर क्योंकि तू दैवी प्रकृति के गुण लेकर जन्मा है (यानी तेरी प्रकृति दैवी है इसलिए तेरा कल्याण अवश्य होगा) ॥५॥ इस संसार में दो प्रकार के प्राणियों की सृष्टि है, एक तो दैवी अर्थात् सतोगुणी स्वभाववाले और दूसरी आसुरी अर्थात् रजोगुणी व तमोगुणी स्वभाववाले। दैवी प्रकृति का वर्णन विस्तारपूर्वक कर दिया गया है। हे अर्जुन! अब तू आसुरी

प्रकृति का वर्णन सुन ॥६॥ आसुरी प्रकृतिवाले प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते अर्थात् असुर लोग यह नहीं समझते कि उन्हें क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए। इसलिए न उनमें पवित्रता ही है, न सदाचार और न सच ही है अर्थात् वे अपवित्र, दुराचारी और झूठे होते हैं ॥७॥ वे कहते हैं कि जगत् झूठा है, (अर्थात् जिस प्रकार हम झूठे हैं वैसे ही यह जगत् मिथ्या है) आधारहीन है (यानी धर्म और अधर्म उसके आधार नहीं हैं अथवा उनकी राय में यह जगत् बिना किसी आधार के स्थित है) और इसीलिए यह जगत् बिना ईश्वर के है (यानी इस जगत् का रचनेवाला या कर्मफल देनेवाला कोई नहीं है)। सारा जगत् स्त्री-

पुरुष के संयोग से पैदा हुआ है। कामदेव इसका कारण है। इसके अलावा दूसरा कारण हो ही नहीं सकता है ॥ ८ ॥ हे अर्जुन ! उक्त दृष्टि का सहारा लेकर ये मलीनचित्त, तुच्छ-बुद्धि, भयंकर कर्म करनेवाले, जगत् के शत्रु, जगत् के नाश करने के लिए, उत्पन्न हुए हैं ॥ ९ ॥ असुर प्रकृतिवाले ऐसी-ऐसी इच्छाएँ किया करते हैं; जो बड़ी-बड़ी तकलीफ़ें उठाने पर भी पूरी न हों। उनमें पाखंड, घमंड और अहङ्कार भरा रहता है;इसीलिए झूठे निश्चयों को ग्रहण करके वे वेद-विरुद्ध कर्म करते हैं ॥ १० ॥ वे ऐसी अनन्त चिंताओं में लगे रहते हैं, जो मृत्यु-समय ही उनका पीछा छोड़ती हैं (अर्थात् वे कमाने, खाने और धन जमा करने की फ़िक्र ही में तमाम

उम्र बिता देते हैं) उन लोगों का निश्चय है कि विषयभोगों के भोगने में ही परम सुख है॥ ११॥ इस प्रकार सैकड़ों आशारूपी फाँसों से जकड़े हुए काम और क्रोध के अधीन हुए नाना प्रकार के विषयभोगों के भोगने की खातिर, छल, कपट और अन्याय से ये लोग धन बटोरने की इच्छा करते हैं॥ १२॥

असुर प्रकृतिवाले मनुष्य ऐसी बातों के फेर में पड़े रहते हैं कि इतना तो मुझे आज मिल गया है और यह मेरा मनोरथ (कल) पूरा होगा। यह धन तो मेरा है और वह भी भविष्य में (अगले वर्ष) मेरा हो जायगा। (और इस प्रकार मैं बड़ा धनी हो जाऊँगा॥१३॥ उस शत्रु को तो मैंने मार

डाला है और दूसरों को भी कल) मार डालूँगा; मैं मालिक हूँ यानी पालन-पोषण करनेवाला हूँ, मैं ही भोगों के भोगनेवाला हूँ, मैं सिद्ध हूँ (अर्थात् मेरे बेटे-पोते हैं और मैं धनी हूँ), मैं बड़ा बलवान् और सब प्रकार से निरोगी और सुखी हूँ ॥ १४ ॥ मैं धनवान् हूँ, मैं ऊँचे कुल में पैदा हुआ हूँ, मेरे समान इस समय पृथ्वी पर कोई नहीं है, मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और मौज करूँगा। इस प्रकार अनेक विषयों में चित्त रहने से मोहजाल में फँसे हुए, विषयभोगों में आसक्त रहते हुए, आसुरी प्रकृतिवाले घोर नरक में गिरते हैं ॥ १५-१६ ॥ ऐसे लोग अपने आपको बड़ा मानते हैं और सबसे अकड़ के साथ बातचीत करते

हैं, वे धन के नशे में रहते हैं और घमण्ड में चूर रहते हैं। (केवल औरों को दिखलाने के लिए) वे शास्त्रविरुद्ध, छल-कपट से केवल नाममात्र के यज्ञ करते हैं॥ १७॥ वे लोग अहङ्कार, बल, घमण्ड, काम और क्रोध के अधीन होकर अपनी देह में और दूसरों के शरीरों में रहनेवाले मुझ अन्तर्यामी की निन्दा करते हैं और मुझसे घृणा करते हैं (ऐसे पुरुष वास्तव में नरकगामी होते हैं)॥ १८॥ मुझसे द्वेष करनेवाले, इन निर्दयी, नीच, बुरे काम करनेवाले पुरुषों को मैं इस संसार में, बारम्बार आसुरी योनियों में ही (यानी सिंह, चीता, सर्प आदि नीच योनियों में ही) डालता हूँ॥ १९॥ वे मूर्ख लोग, बारम्बार आसुरी योनियों में जन्म

लेने के कारण, मुझ सच्चिदानन्दस्वरूप को प्राप्त होने नहीं पाते ; इसलिए हे अर्जुन ! वे और भी नीची गति को प्राप्त हो जाते हैं (अर्थात् वे बुरे कर्म करने के कारण नीचे ही गिरते जाते हैं और ऊपर उठने नहीं पाते) ॥ २० ॥ हे अर्जुन ! नरक में जाने के तीन दरवाज़े हैं :—काम, क्रोध और लोभ । ये तीनों आत्मा के नाश करनेवाले हैं अर्थात् ये तीनों प्राणी को अपना सच्चा स्वरूप भुला देनेवाले या अन्तःकरण को मलीन करनेवाले हैं ; इसलिए मनुष्य को चाहिए कि इन तीनों को छोड़ दे ॥ २१ ॥ हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! जो मनुष्य इन तीन नरक के द्वारों यानी काम, क्रोध और लोभ को छोड़ देता है वही अपनी आत्मा का भला करता है अर्थात्

वही मनुष्य भगवद्भक्ति या आत्मस्वरूप के ध्यान में लीन हो सकता है और इस प्रकार परम गति यानी मोक्ष को प्राप्त होता है ॥२२॥ जो मनुष्य शास्त्र की मर्यादा छोड़कर अथवा शास्त्रों में लिखे हुए उपदेशों की परवाह न करके, अपनी इच्छानुसार चलता है, उसे न सिद्धि मिलती है, न लोक-परलोक के सुख मिलते हैं और न वह परम गति—मोक्ष—को ही प्राप्त होता है ॥ २३ ॥ इसलिए क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए, इसके निर्णय करने में तुझे शास्त्र की आज्ञा ही माननी चाहिए। शास्त्र में दी हुई विधि के अनुसार ही तुझे इस संसार में अपना कर्त्तव्य-कर्म करना उचित है ॥ २४ ॥

गीता के सोलहवें अध्याय का माहात्म्य

भगवान् शंकर ने पार्वती से कहा--"हे देवि, अब गीता के सोलहवें अध्याय का माहात्म्य सुनो। गुजरात देश में सौराष्ट्रिक नाम का एक नगर है। वहाँ खड्गबाहु नाम का राजा राज्य करता था। एक दिन रात के समय राजा का एक मतवाला हाथी बन्धन तोड़कर भागा। महावतों ने उसे पकड़ने की बहुत कोशिश की, पर किसी उपाय से उसे अपने वश में न ला सके। नगर के लोग उस भयानक हाथी के डर से राह छोड़कर भागे और अपने बाल-बच्चों की रक्षा करने लगे। उसी समय एक ब्राह्मण, तालाब में स्नान करके, गीता के कुछ श्लोकों का पाठ करता हुआ उसी मार्ग से आ रहा था लोगों ने उसे बहुत मना किया कि इस मार्ग से न जाओ,

किन्तु वह ब्राह्मण हाथी से न डरकर उसी मार्ग से चला गया। हाथी उस ब्राह्मण को आते देखकर मार्ग से हट गया और उसे राह दे दी। यह अद्भुत बात देखकर, सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा खड्गबाहु विस्मित होकर ब्राह्मण से पूछने लगा--'हे ब्राह्मण, आपने इस समय यह बड़ा अद्भुत काम किया। यमराज के समान भयानक इस हाथी से न डरकर इसके आगे से आप कैसे निकल आये? आप किस देवता की पूजा करते हैं और किस मन्त्र को जपते हैं? आपमें क्या सिद्धि है, सो मुझे बतलाइए।' ब्राह्मण बोला--'महाराज, मैं गीता के सोलहवें अध्याय का प्रतिदिन पाठ करता हूँ, उसी से मुझे सब सिद्धियाँ प्राप्त हुई हैं।' ब्राह्मण की यह बात सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह बड़े सम्मान से ब्राह्मण को अपने घर ले गया और उसे एक लाख अशर्फियाँ दीं। उसी दिन से राजा खड्गबाहु गीता के सोलहवें अध्याय का पाठ करने लगा। एक दिन, राजा अपने मन्त्रियों

के साथ शिकार को गया। वहाँ, वही मतवाला हाथी, जो पागल होकर राजा के फ़ीलख़ाने से भागा था, सामने देख पड़ा। उसे देखकर मन्त्रियों को बड़ा भय हुआ। वे लोग भागे और राजा से भी भागने को कहने लगे। किन्तु राजा निडर होकर उसी के सामने से चला गया और हाथी कुछ न बोला। उसके बाद राजा नगर में आकर राजकुमार का राज्याभिषेक करके, संसार से विरक्त होकर, बड़ी श्रद्धा से गीता के सोलहवें अध्याय का पाठ करता रहा और अन्त को शरीर त्यागकर अक्षयलोक को गया।"

सत्रहवाँ अध्याय



तीन तरह की श्रद्धा

अर्जुन ने कहा:—

हे कृष्ण ! जो मनुष्य शास्त्र-विधि को त्यागकर, श्रद्धा-पूर्वक यज्ञ करते हैं, उनकी निष्ठा कैसी है ? सात्त्विकी है, राजसी है या तामसी ? ॥ १ ॥

भगवान् ने कहाः—

हे अर्जुन ! शरीरधारियों की श्रद्धा स्वभाव से ही तीन तरह की होती हैः—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। उसी को तू अब (विस्तारपूर्वक) मुझसे सुन—॥ २ ॥ हे अर्जुन ! सबकी श्रद्धा अन्तःकरण के अनुसार ही होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है। जिस मनुष्य की श्रद्धा जैसी होती है, वह वैसा ही होता है ॥ ३ ॥

सतोगुणी स्वभाववाले लोग देवताओं को पूजते हैं, रजोगुणी स्वभाववाले पुरुष यक्ष और राक्षसों की पूजा करते हैं। तमोगुणी लोग भूत-प्रेतों की उपासना करते हैं ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! जो लोग पाखण्डी हैं, घमण्डी हैं, विषय-वासना

अथवा विषयभोग में प्रीति रखते हैं और हठी हैं, वे शास्त्र के विरुद्ध घोर तप करते हैं (वृक्षों में झूला डालकर उल्टा लटकना या चारों तरफ़ आग जलाकर उसके बीच में बैठना आदि शास्त्र के विरुद्ध तप हैं) और इस प्रकार वे मूर्ख शरीर में स्थित पृथ्वी आदि पाँच भूतों को अथवा देह में स्थित इन्द्रियों को कमज़ोर कर डालते हैं और ऐसे ही अन्तर्यामी रूप से शरीर के भीतर रहनेवाले मुझ परमात्मा को भी दुर्बल करते हैं। ऐसे मनुष्यों को तू आसुरी श्रद्धावाला समझ ५-६

आगे भगवान् श्रद्धा की तरह भोजन, यज्ञ, तप और दान इन चारों की भी तीन-तीन क़िस्में बतलाते हैं:—

हे अर्जुन! सब लोगों का प्यारा आहार भी (सात्त्विक,

राजस, तामस) तीन प्रकार का होता है। इसी तरह यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के होते हैं, उनके भेद को तू मुझसे अब सुन ॥७॥ हे अर्जुन ! आयु, उत्साह, शारीरिक सामर्थ्य यानी बल, आरोग्यता और मन की प्रसन्नता बढ़ानेवाले, रुचिकर, अत्यन्त स्वादिष्ठ या रसीले, चिकने और बहुत समय तक शरीर में बल देनेवाले और हृदय को प्रसन्न करनेवाले भोजन सतोगुणी पुरुषों को प्यारे लगते हैं ॥ ८ ॥ कड़ुवा, खट्टा, नमकीन, ज़्यादा गर्मागर्म, तीक्ष्ण (बहुत तेज़ जैसे राई) रूखे और दाहकारक यानी जलन पैदाकरनेवाले भोजन, जो दुःख, रोग और शोक के देनेवाले हैं, रजोगुणी मनुष्यों को अच्छे लगते हैं ॥ ९ ॥ जिस भोजन को बने

बहुत समय बीत गया हो यानी ठण्डा हो गया हो, रक्खे-रक्खे जो स्वादहीन हो गया हो, जिसमें बदबू आती हो, जो बासी, जूँठा और अशुद्ध हो, इस प्रकार का भोजन तमोगुणी लोगों को अच्छा लगता है ॥ १० ॥ 'यज्ञ करना ही चाहिए', अथवा 'यज्ञ करना हमारा धर्म है', ऐसा विचारकर जो यज्ञ किसी प्रकार के फल पाने की इच्छा के विना किया जाता है, वह यज्ञ 'सात्त्विक' कहलाता है ॥ ११ ॥ हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! जो यज्ञ इस मतलब से किया जाता है कि मुझे लोक-परलोक में फल मिले और लोगों में मैं धर्मात्मा कहलाऊँ, इस प्रकार के यज्ञ को तू 'राजस' यज्ञ समझ ॥ १२ ॥ जो यज्ञ शास्त्रविधि के विरुद्ध किया जाता है, जिस यज्ञ में

(ब्राह्मणों को) भोजन न कराया गया हो; जिसमें वेद-मन्त्र न बोले गये हों, जिसमें (विद्वानों को) दक्षिणा न दी गई हो, और यज्ञ करानेवाले की यज्ञ में तथा यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणों में ज़रा भी श्रद्धा न हो, ऐसा यज्ञ तामस कहलाता है ॥१३॥

यहाँ तक भगवान् ने तीन प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया। अब भगवान् तप को कायिक, वाचिक और मानसिक इन तीन भेदों से वर्णन करते हैं:—

हे अर्जुन! ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं का पूजन; सदाचारी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का सत्कार करना; माता-पिता, गुरु और विद्वानों का पूजन; भीतर-बाहर पवित्र रहना; सरल स्वभाव होना; ब्रह्मचर्य व्रत का धारण करना; किसी को दुःख न देना यह शारीरिक तप कहलाता है ॥ १४ ॥

अपनी बातों से किसी के मन को दुःख न पहुँचाना, सच बोलना, प्यारी और भलाई करनेवाली बातें कहना, वेद-शास्त्र का पढ़ना व पढ़ाना—यह वाचिक तप है ॥ १५ ॥ मन को प्रसन्न रखना, चित्त में शान्ति रखना (या दूसरों की भलाई करने में हर समय लगा रहना), मौन रहना यानी कम बोलना, अपने मन को अपने वश में रखना और व्यवहार में किसी से भी छल-कपट न करना, यह सब मानसिक तप कहलाता है ॥ १६ ॥

अब भगवान् सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के हिसाब से ऊपर कहे हुए तीन प्रकार के तपों का वर्णन करते हैं:—

हे अर्जुन ! एकाग्र चित्तवाले पुरुष, अत्यन्त श्रद्धापूर्वक

तप करने के फल की इच्छा त्यागकर, जब ऊपर कहे हुए तीन प्रकार के (शारीरिक, वाचिक और मानसिक) तपों को तपते हैं तो उस तप को 'सात्त्विक' तप कहते हैं ॥ १७ ॥

जो तप अपना सत्कार-आदर-मान और प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए और केवल दिखलावे के भाव से किया जाता है, ऐसा चंचल और अनित्य तप 'राजस' कहलाता है ॥ १८ ॥

जो तप मूर्खतावश, अपने शरीर और इन्द्रियों को दुःख देकर दूसरे को दुःख देने या नाश करने के लिए किया जाता है, वह 'तामस तप' कहा जाता है ॥ १९ ॥

अब भगवान् दान के तीन भेदों का वर्णन करते हैं:—

दान देना हमारा कर्त्तव्य धर्म है, इस भावना से जो दान

उत्तम देश और काल में उस सुपात्र को दिया जाता है, जिससे कोई हमारा उपकार न हो सकता हो वह 'सात्त्विक दान' कहलाता है॥ २०॥ हे अर्जुन! जो दान इस मतलब से दिया जाता है कि इसके बदले में मुझे स्वर्गादि फल मिले या इसके बदले में यह मनुष्य भी हमारे साथ भलाई करे, अथवा जो दान दुःखित चित्त होकर दिया जाता है, वह दान 'राजस' माना गया है।॥ २१॥ जो दान बिना देश-काल के अपात्रों को दिया जाता है (अर्थात् बुरे देश और अपवित्र समय में जो दान जुआरियों, दुराचारी पण्डों और मूर्ख ब्राह्मणों या भाँड़ों को दिया जाता है) और देते समय जो दान तिरस्कार या अनादर से

दिया जाता है, वह दान 'तामस' कहलाता है ॥ २२ ॥

अब आगे भगवान् "ॐ तत्सत्" द्वारा अंगहीन क्रियाओं के पूर्ण करने की विधि बतलाते हैं—

हे अर्जुन ! 'ॐ तत्सत्' परमात्मा के ये तीन उत्तम नाम हैं ; इन नामों से ही पहिले यानी सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ उत्पन्न किये गये थे ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! इसलिए ब्रह्मविद्या के जाननेवाले अर्थात् वेदों के जाननेवाले शास्त्रोक्त विधि से यज्ञ, दान और तप आरम्भ करने के पहिले 'ॐ' शब्द का उच्चारण करते हैं ॥ २४ ॥ जो किसी प्रकार के फल की इच्छा नहीं रखते, किन्तु केवल मोक्ष चाहते हैं, ऐसे पुरुष नाना प्रकार के यज्ञ, तप और दान

करने के पहिले 'तत्' का उच्चारण करते हैं ॥२५॥ हे अर्जुन! सद्भाव और साधुभाव में 'सत्' शब्द का उच्चारण किया जाता है और ऐसे ही विवाह आदि मंगल कर्मों में 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥ भगवान् कहते हैं कि जिसका यज्ञ, तप और दान में पूरा-पूरा निश्चय है उसको उचित है कि कर्मों के आरम्भ काल में 'सत्' शब्द का ज़रूर उच्चारण करे। परमेश्वर की प्राप्ति के लिए जो कर्म किये जाते हैं उनमें भी 'सत्' शब्द का ही प्रयोग किया जाता है (कर्म-अंगहीन और गुणरहित भी क्यों न हों, पहिले 'ॐ तत्सत्' के उच्चारण करने से वे पूरे हो जाते हैं) ॥ २७ ॥ हे पार्थ! जो मनुष्य अश्रद्धा से अग्नि में हवन करता है, जो श्रद्धा-

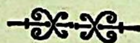
वान् होकर (केवल दिखलावे के लिए) दान देता है या तप करता है, उन कर्मों का फल असत् होता है यानी कुछ भी नहीं होता। ऐसे कर्मों का फल न तो इस लोक में मिलता है और न परलोक में ॥ २८ ॥

गीता के सत्रहवें अध्याय का माहात्म्य

महादेवजी बोले—"हे पार्वती! गीता के सोलहवें अध्याय का माहात्म्य हम कह चुके, अब सत्रहवें अध्याय का माहात्म्य सुनो। राजा खड्गबाहु का जब शरीरान्त हो गया और उसका पुत्र राज्य कर रहा था, तब दुःशासन नाम के एक नौकर ने उस पागल हाथी को किसी तरह जंजीर से बाँध लिया। उसने एक दिन बड़े अभिमान से उस पर सवार होना चाहा। लोगों ने उसे बहुत समझाया, किन्तु वह किसी की बात न मानकर उसकी गर्दन पर सवार हो गया। हाथी ने क्रोध में आकर उसे अपनी सूँड़ में लपेटकर पैर से कुचल डाला। हाथी से मारे हुए दुःशासन को दूसरे जन्म में हाथी का जन्म

मिला। वह पैदा तो सिंहलद्वीप में हुआ; पर वहाँ के राजा से खड्गबाहु की मित्रता थी, उसने उस हाथी को खड्गबाहु के पुत्र को दे दिया। हाथी को अपने पूर्वजन्म का सब वृत्तान्त स्मरण था, इसलिए वह अपने घरवालों को देखकर हमेशा चिन्तित रहा करता था। कुछ दिनों बाद वह बीमार हो गया और बहुत चिकित्सा करने पर भी अच्छा न हुआ। एक दिन राजा उसे देखने के लिए स्वयं आया और उसकी हालत देखकर अफ़सोस करने लगा। हाथी बोला—'महाराज, चिकित्सा से मेरी बीमारी नहीं दूर होगी, आप कृपा करके गीता का पाठ करनेवाले किसी ब्राह्मण को बुलवाकर मुझे गीता के सत्रहवें अध्याय का पाठ सुनवाइये तो मैं इस शरीर से ही नहीं बल्कि इस संसार से मुक्त होकर वैकुण्ठलोक प्राप्त करूँ।' राजा ने वैसा ही किया। ब्राह्मण के मुँह से गीता के सत्रहवें अध्याय का पाठ सुनकर हाथी का शरीर छूट गया और वह विमान पर बैठकर दिव्यलोक को गया।"

अठारहवाँ अध्याय



संन्यास और त्याग का भेद

अर्जुन ने कहा—

हे बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले ! हे इन्द्रियों के स्वामी ! और हे केशी दैत्य के मारनेवाले श्रीकृष्णजी ! मैं अलग-अलग यह जानना चाहता हूँ कि संन्यास और त्याग में क्या भेद है॥१॥

अठारहवाँ अध्याय

भगवान् ने कहा—

कवि लोग अर्थात् पण्डित लोग फल की इच्छा से किये गये कर्मों के छोड़ने को "संन्यास" कहते हैं और विचार-कुशल पुरुष सब कर्मों के फल छोड़ देने को "त्याग" कहते हैं ॥ २ ॥ कितने ही बुद्धिमान् ऐसा कहते हैं कि जिस तरह दोषों का छोड़ना मनुष्यों के लिए ज़रूरी है, इसी तरह कर्मों का छोड़ना भी उचित है। कुछ मनुष्य ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, तप और दान को न छोड़ना चाहिए ॥३॥ हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! इस त्याग के विषय में तू अब मेरा निश्चय (ध्यानपूर्वक) सुन। हे पुरुषों में सिंह ! (यज्ञ, तप, दान आदि की तरह) त्याग भी निश्चय ही तीन तरह का कहा गया

है ॥ ४ ॥ हे अर्जुन ! यज्ञ, दान और तप इन कर्मों को कदापि न छोड़ना चाहिए, बल्कि इन्हें अवश्य करना चाहिए; क्योंकि ये यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों (फल की आशा से रहित पुरुषों) को पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! ये कर्म तो फल की आशा छोड़कर और उनमें आसक्ति न रखकर अवश्य करने ही चाहिए, ऐसा मेरा निश्चित श्रेष्ठ मत है ॥ ६ ॥

अग्निहोत्र और सन्ध्योपासनादि नित्य कर्मों का त्याग कदापि न करना चाहिए। अज्ञान से अथवा मूर्खतावश उनको त्याग देना तामसी त्याग कहलाता है॥ ७ ॥ जो पुरुष यह समझता है कि इस काम करने में दुःख ही दुःख है

ऐसा समझकर, शारीरिक कष्ट के डर से, जो कर्म को त्याग देता है, वह त्याग 'राजस' कहलाता है। ऐसे त्यागी पुरुष को, रजोगुण त्याग के कारण, त्याग का फल कुछ नहीं मिलता ॥ ८ ॥ 'यह कर्म करना ज़रूरी है' हे अर्जुन! ऐसा समझकर, आसक्ति तथा फल को त्यागकर जो कर्म नियम से किया जाता है, वह त्याग 'सात्त्विक' कहा जाता है ॥९॥ सात्त्विक त्यागी मनुष्य, सतोगुण से पूर्ण होने पर, तत्त्व-ज्ञानी हो जाता है, उसके संशय दूर हो जाते हैं, तब वह बुद्धिमान् दुःख देनेवाले कर्मों से द्वेष नहीं करता और सुख देनेवाले कर्मों से प्रसन्न नहीं होता ॥ १० ॥ क्योंकि देहधारी पुरुष संपूर्ण कर्मों को कदापि नहीं त्याग सकता है। जो

कर्मफलों को त्याग देता है, वही निश्चय ही त्यागी है, ऐसा कहा गया है ॥ ११ ॥ अनिष्ट (बुरा), इष्ट (भला) और मिश्रित (बुरा भला मिला हुआ)—ये तीन प्रकार के कर्मों के फल होते हैं। मरने के बाद ये फल उन्हें मिलते हैं जो कर्मफल का त्याग नहीं करते; किन्तु जो सच्चे त्यागी हैं उन्हें शरीर छोड़ने पर यह फल भोगने नहीं पड़ते ॥ १२ ॥

हे बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले अर्जुन ! वेदान्तशास्त्र में, सब प्रकार के कर्मों की सिद्धि के लिए जो पाँच कारण कहे गये हैं, उन्हें तू मुझसे समझ:—(इन्हीं कारणों से मनुष्य कर्मों में आसक्त रहता है) ॥ १३ ॥ (१) अधिष्ठान यानी शरीर (२) कर्त्ता यानी उपाधिसहित जीव (३) भिन्न-भिन्न प्रकार

का करण अर्थात् मन और इन्द्रियाँ (४) नाना प्रकार की अलग-अलग चेष्टाएँ यानी प्राण, अपान, समान, उदान और व्यानवायु (५) दैव अर्थात् सूर्य, चन्द्र आदि देवतागण जिनकी मदद से इन्द्रियाँ काम करती हैं; कर्म के यही पाँच कारण हैं ॥ १४ ॥ मनुष्य शरीर, मन और वाणी से जो भी अच्छे-बुरे कर्म करता है उनके यही (ऊपर कहे हुए) पाँच कारण हैं ॥ १५ ॥ सब प्रकार के कर्म ऊपर कहे हुए पाँच कारणों से ही होते हैं, ऐसा निश्चय हो जाने पर भी, जो मूर्ख अपने शुद्ध आत्मा को कामों का 'कर्त्ता' यानी करने-वाला समझता है वह दुर्बुद्धि पुरुष आत्मा को यथार्थरूप से नहीं देखता है ॥ १६ ॥

मैं यह करता हूँ, इस प्रकार का विचार जिस पुरुष के मन में नहीं है (बल्कि यह समझता है कि शरीर, अन्तःकरण, इन्द्रिय, पाँच वायु और सूर्य आदि देवता इन पाँच कारणों से ही सब कर्म होते हैं, मेरा इन सबसे कुछ सम्बन्ध नहीं है, मैं तो अविनाशी और निर्विकार हूँ), जिसकी बुद्धि कामों में लिप्त नहीं है—यद्यपि वह इन प्राणियों को मारता है तो भी वह इन्हें नहीं मारता है और न बन्धन में ही फँसता है (यानी उसे कर्म के बन्धन में फँसकर पाप का फल भोगना नहीं पड़ता) ॥ १७ ॥ ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता ये तीन कर्म के प्रेरक यानी प्रवर्त्तक हैं। करण, कर्म और कर्त्ता ये तीन कर्म के आश्रय हैं ॥ १८ ॥ हे अर्जुन! सत्त्व, रज आदि गुण के

भेद से सांख्यशास्त्र में ज्ञान, कर्म और कर्त्ता तीन प्रकार के
कहे गये हैं, उनको भी तू ठीक-ठीक सुन ॥ १९ ॥ जिस ज्ञान
के द्वारा पुरुष अलग-अलग प्राणियों में अर्थात् मनुष्य, पशु,
पक्षी आदि में एक ही अखण्ड अविनाशी निर्विकार आत्मा
को देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक समझ ॥ २० ॥ जिस
ज्ञान से सब प्राणियों के शरीर में रहनेवाला एक ही आत्मा
अलग-अलग रूप से दिखाई देता है, उसे राजस ज्ञान कहते
हैं ॥ २१ ॥ जिस ज्ञान के कारण यह शरीर आत्मा समझा
जाता है अथवा जो ज्ञान मनुष्य को किसी पदार्थ या मूर्ति
आसक्त कर देता है कि वह उस मूर्ति या वस्तु को
समझता है यानी उसे ही आत्मा अथवा ईश्वर

समझता है, वह ज्ञान झूठा, निर्मूल और तुच्छ है। ऐसे ज्ञान को तामस ज्ञान कहते हैं ॥ २२ ॥

अब भगवान् गुण-भेद से तीन प्रकार के 'कर्मों' का वर्णन करते हैं—

जो कर्म अपना कर्त्तव्य समझकर अपने धर्म के अनुसार किया जाता है, जिस कर्म के करने में मनुष्य आसक्त नहीं होता अथवा जिस कर्म के करने का अभिमान नहीं होता जो कर्म विना राग-द्वेष (प्रीति और अप्रीति) के किया जाता है और जो कर्म फल न चाहनेवाले पुरुषों से किया जाता है, वह सात्त्विक कर्म कहलाता है ॥ २३ ॥ जो कर्म स्वर्गादि किसी प्रकार के फल पाने की इच्छा से, अहङ्कार [illegible] तीन [illegible] बड़े परिश्रम या क्लेश से किया जाता है, ऐसा [illegible] आदि [illegible]

कहलाता है ।२४॥ जिस काम के शुरू करने से पहिले यह नहीं विचारा जाता कि इसका फल क्या होगा, इस काम के करने में कितने धन का नाश होगा, दूसरे प्राणियों को कितना कष्ट होगा, इस काम के करने की मेरी सामर्थ्य है या नहीं— इन चारों पर विचार न करके जो काम मूर्खतावश किया जाता है वह तामस कर्म है ॥ २५ ॥ जो कर्म में आसक्त नहीं होता यानी जिसका लगाव कर्म या कर्म-फल से नहीं है, जो अहंकार [illegible] हित है, अर्थात् जो अपने गुणों की खुद तारीफ़ नहीं करत[illegible] धैर्यवान् और उत्साही अर्थात् हिम्मतवाला [illegible] असिद्धि यानी हार-जीत अथवा हानि-लाभ में हो [illegible] हता है अर्थात् काम बन जाने पर जो खुश नहीं

होता और काम के बिगड़ जाने पर जो दुखी नहीं होता है ऐसा कर्त्ता सात्त्विक कहलाता है ॥ २६ ॥ हे अर्जुन ! जो ... वह अथवा विषयों से प्रेम रखता है, जो कर्मों के करने पर ... सुख फल पाने की इच्छा रखता है, जो लोभी है, जो स्व... ही दूसरों को दुःख देनेवाला है, जो भीतर-बाहर से ...वे है, ... है, जो काम हो जाने पर खुश होता है और काम न ह... अर्जुन ! दुःखी होता है—ऐसा कर्त्ता रजोगुणी कहलाता है ॥ ... का दृढ़ जो कर्म करनेवाला कर्म करते समय कर्म में ... न ल-उधर न हो, जो गँवार हो अर्थात् जो बालक की-सी ... के ... मुष्य जो कठोर स्वभाव हो, जो गुरु-देवता के सामने ... में स्वग... शिर न झुकाता हो, जो कपटी हो, जो द्रो... तीन ... मानआदि गु... के

द्धि
की व्याख्
ाह धृति
ुझसे
में ऐसा
ो सब कुछ